उपेक्षित श्रम

श्वेता त्रिपाठी

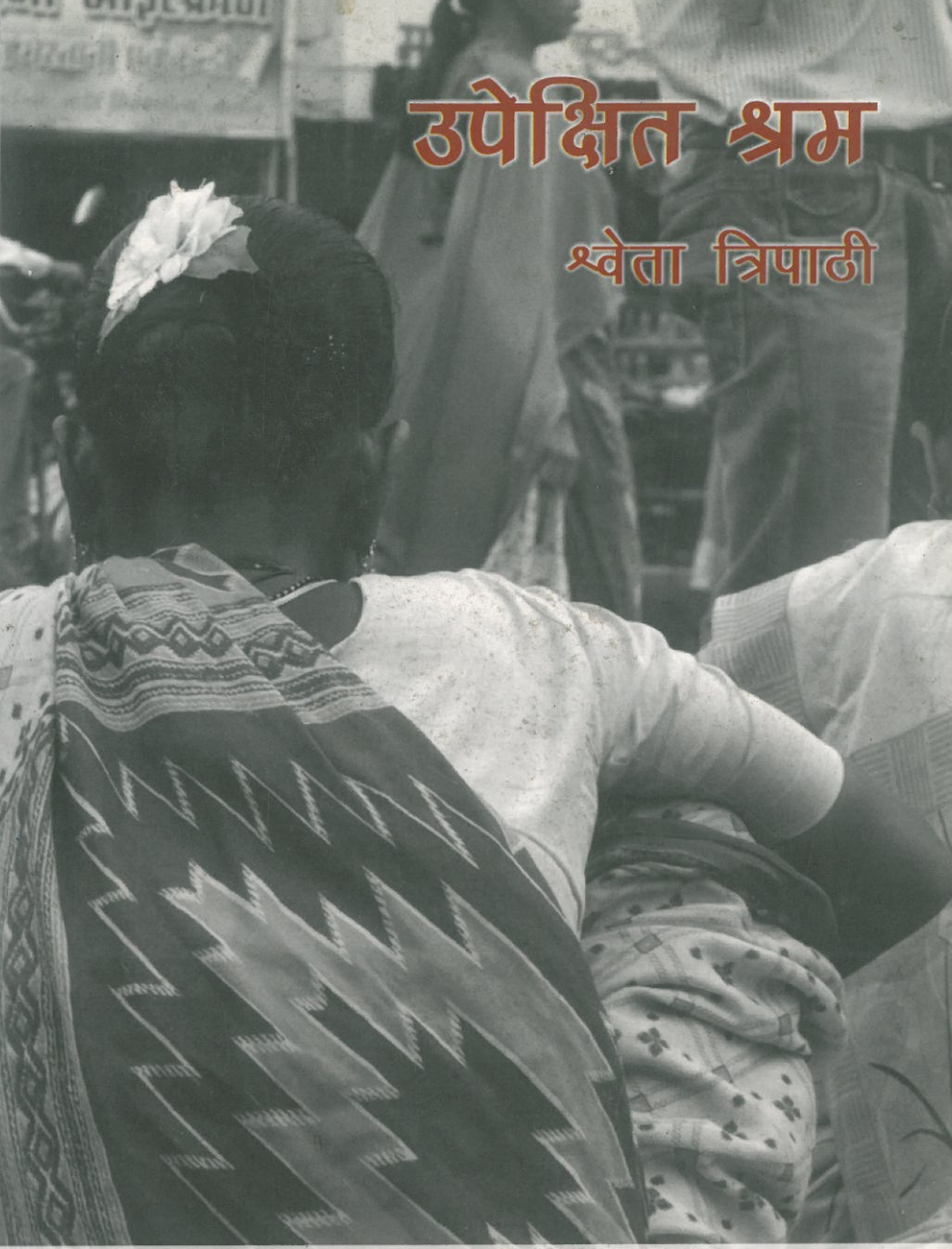

घरेलू कामगारों की केस स्टडीज़ पर आधारित
उनकी ज़िन्दगियों का एक दस्तावेज

उपेक्षित श्रम

- श्वेता त्रिपाठी

घरेलू कामगारों की केस स्टडीज़ पर आधारित
उनकी ज़िन्दगियों का एक दस्तावेज़

दो शब्द

दिसम्बर की ठिठुरती सर्दी हो या मई–जून की गर्मी, सुबह सूर्योदय से पहले लाल–पीली–हरी साड़ी पहने तेज़–तेज़ कदमों से लगभग भागती हुई एक घर से दूसरे घर, एक अपार्टमेन्ट से दूसरे अपार्टमेन्ट में अपना काम करती ये महिलाएं घरेलू कामगार हैं। अपने बच्चों को घर में भूखा छोड़ सुबह दूसरों का नाष्ता बनाने, झाड़ू–पोंछा करने, बर्तन धोने, बच्चों को तैयार कर स्कूल पहुंचाने का काम करने वाली इन महिलाओं की यही दिनचर्या है। बिना कुछ खाये–पिये सुबह 6.00 बजे से इनके काम की शुरूआत होती है। चार–पांच घरों में काम कर वापिस दोपहर में अपने घर का करती हैं। फिर दोपहर में जल्दी–जल्दी घर का काम निपटाकर शाम के काम की तैयारी में लगी रहती है।

मौसम बदलते हैं। दिन बदलते हैं। परन्तु इनके जीवन में कुछ बदलता नहीं। शहर में ज़िन्दा रहना इनके समक्ष एक बड़ी चुनौती है। आंखों में ढेरों सपने लिए बच्चों की अच्छी शिक्षा, पर्याप्त भोजन, अच्छे घर की आस में मशीन की भांति ये लगातार काम करती रहती है।

हर महिला के जीवन के संघर्ष पर एक नया उपन्यास लिखा जा सकता है। हमारी सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था का शिकार हैं ये महिलाएं। दिल्ली जैसे महानगरों में इनकी बहुत बड़ी संख्या है। इनके काम को सरकार भी मान्यता नहीं देती। इसी वजह से श्रमिक होते हुए भी आज इन्हें किसी तरह की कोई भी सुविधा मुहैया नहीं की गई है।

शोषित मज़दूरी, सालों–साल तक मज़दूरी में बढ़ोत्तरी नहीं। छुट्टी का कोई नियम नहीं। काम के घंटे तय नहीं। ऐसी स्थिति में जीवन यापन करती हैं ये महिला श्रमिक। आज जिस रफ़तार से शहरिकरण की प्रक्रिया ने गांव के रास्ते शहर की ओर खोल दिए हैं, गांव से शहरों की ओर पलायन तेजी से बढ़ता जा रहा है। शहरों में हरने वाले लोगों की संख्या

दिन–दूनी, रात–चौगुनी रफ़्तार से बढ़ रही है। गांव में जीविका के घटते साधन को पलायन का एक कारण माना जा सकता है तो शहर में बढ़ते रोजगार के अवसरों को दूसरा कारण माना जा सकता है। शहर में कल–कारखानों में उत्पादन के साथ सेवा क्षेत्रों में रोजगार के अवसर बहुत बढ़े हैं। असंगठित क्षेत्रों के मज़दूरों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। जिनमें निर्माण मज़दूर, परिवहन क्षेत्र के मज़दूर, दिहाड़ी मज़दूर, फल–सब्ज़ी बेचने वाले, माल ढोने वाले, कुली तथा घरेलू कामगार हैं।

पिछले एक दशक में घरेलू कामगारों की संख्या में वृद्धि साफ तौर पर नज़र आ रही है। जो महिलाएं घरों में रहती थी, अब वे काम पर जा रही हैं। घरेलू काम ऐसा क्षेत्र है, जिसमें किसी विशेष प्रकार के हुनर की आवश्यकता नहीं होती। आम तौर पर घर चलाने वाली सभी महिलाओं के पास यह न्यूनतम हुनर रहता है। बढ़ती महंगाई, बच्चों की पढ़ाई का खर्च और पति के अनिश्चित रोजगार ने गरीबों की अर्थव्यवस्था को अनिश्चित बना दिया है। अर्थव्यवस्था की इस अनिश्चितता ने गरीब परिवारों की महिलाओं को मजबूर किया है कि वे भी शहर में अपने लिए रोजगार ढूंढे और परिवार की आर्थिक ज़रूरत पूरा करने में योगदान दे सकें।

दूसरी तरफ मध्यमवर्ग का निचला हिस्सा बढ़ती महंगाई की मार को झेल नहीं पा रहा है। उन घरों से भी महिलाओं को बाहर काम की तलाश में जाना पड़ रहा है। प्रोफेशनल और कैरियर बनाने की चाह में भी बड़ी संख्या में महिलाएं बाहर काम पर जा रही है। जिसके फलस्वरूप घरेलू कामों के लिए काम करने वालों की मांग बढ़ती जा रही है।

मध्यमवर्ग घरों में घरेलू कामगार की मांग बढ़ने से घरेलू कामगारों की संख्या में वृद्धि हुई है। आधिकारिक तौर पर इनकी संख्या की जनगणना उपलब्ध नहीं है। दिल्ली में अनुमानतः इनकी संख्या सात–आठ लाख है। ज़्यादातर ये महिलाएं शहर की झुग्गी बस्तियों में, पुनर्वास बस्तियों में एवं कच्ची कॉलोनियों में रहती हैं जहां घर की अनिश्चितता भी लगातार बनी रहती है। असंगठित क्षेत्र का यह हिस्सा जिसके श्रम से शहर

का एक बड़ा हिस्सा समय से दतर पहुंचता है, उचित धन कमाता है और सुख–सुविधाओं से भरपूर जीवन का उपभोग करता है। उसी श्रमिक का रोजगार, घर, जीवन एक अनिश्चित स्थिति में चल रहा है।

दिल्ली श्रमिक संगठन दिल्ली शहर के मजदूरों के बीच राजनैतिक चेतना के साथ–साथ परस्पर दोस्ती एवं सहयोग पर आधारित संगठन निर्माण की प्रक्रिया को मजबूत करने का कार्य कर रहा है। विगत अट्ठारह वर्षों के कार्यकाल में संगठन का कार्यक्षेत्र काफी बढ़ा है। इसकी पहुंच ज़्यादा मजदूरों तक बनी है। लेकिन वर्तमान व्यवस्था परिवर्तन की दिशा में अभी बहुत कार्य करना बाकी है।

संगठनों ने अन्य संगठनों के साथ घरेलू कामगारों की सामाजिक सुरक्षा व रोजगार नियमन को लेकर राष्ट्रीय महिला आयोग के सहयोग से एक अधिनियम का प्रारूप तैयार किया है। घरेलू कामगार (पंजीकरण, सामाजिक सुरक्षा व कल्याण) अधिनियम 2008 के तहत घरेलू कामगार श्रमिक बोर्ड बनाने, काम को परिभाषित करने, काम के घंटे सुनिश्चित करने, छुट्टी, न्यूनतम मज़दूरी तय करने जैसे आवश्यक प्रावधान हैं। दिल्ली घरेलू कामगार संगठन से श्री रमेन्द्र कुमार प्रारूप कमेटी के सदस्य हैं।

घरेलू कामगारों की शोषण से मुक्ति तभी संभव है जब ये शिक्षित होंगी और आत्मसम्मान के लिए सामूहिक संघर्ष का रास्ता चुनेंगी।

इन घरेलू कामगारों की ज़िन्दगी को नज़दीक से समझने के लिए इस दस्तावेज़ को श्वेता त्रिपाठी जो श्रुति की साथी हैं, की मदद से तैयार किया गया है।

रमेन्द्र एवं अनीता
दिल्ली श्रमिक संगठन

भूमिका

पूंजीवादी व्यवस्था के दो घटक हैं – एक पूंजीपति और दूसरा श्रमिक। भारत में औद्योगीकरण के विकास ने पूंजीवादी व्यवस्था के इस बंटवारे को और स्पष्ट ही किया है। जहां एक तरफ पूंजीपति अब उद्योगपति के रूप में पूंजी–संचय का केन्द्र बना है, वहीं औद्योगीकरण की वजह से बढ़ते शहरीकरण ने श्रमिकों की इस श्रेणी में असंगठित श्रमिकों का एक बड़ा वर्ग खड़ा कर दिया है। घरेलू कामगार असंगठित श्रमिकों के इस वर्ग की ही एक इकाई है। भारत में पिछले दो दशक से घरेलू कामगार मज़दूरों की बढ़ती संख्या इसी औद्योगीकरण–शहरीकरण का नतीज़ा है। शहरीकरण के इस युग में सभी मुख्य घरेलू काम जैसे खाना बनाना, कपड़ा सीना, स्वास्थ्य की देखभाल – ये सब औद्योगीकरण के कार्य–क्षेत्र में आ गए हैं। अब उद्योगवाद इन वस्तुओं का उत्पादन करता है और एक महिला के श्रम के बरक्स इन्हें सस्ते में मुहैया भी करा देता है। इसके साथ–ही–साथ बीमा कम्पनियां, रोज़गार बीमा, वृद्धावस्था जैसी योजनाओं ने पूंजीवाद के एकाधिकार चरित्र के अनुसार एक श्रमिक के भीतर से परिवार की ज़रूरतों को खत्म कर दिया है। इन सब बदलावों ने पूंजीवाद और उनके अपने घर के पुरुषों के लिए औरत के गृह आधारित श्रम के महत्व को कम कर दिया है और उद्योगों में सस्ता श्रम उत्पादन के नाते उनकी ज़रूरत को बढ़ा दिया है। यानि औरत जिसकी पहचान अब तक के पितृसत्तात्मक इतिहास में अपने श्रम–उत्पादक पति और भविष्य के श्रम–उत्पादक बच्चे के बरक्स श्रम के अवैतनिक उत्पादक के रूप में ही रही है – शहरीकरण के दौर में पुरुषों के साथ उत्पादन से सीधे–सीधे जुड़ने लगी। ऐसे में घर को सम्भालने के लिए ऐसे श्रमिक वर्ग की ज़रूरत आ पड़ी जो घरेलू काम के लैंगिक मानदण्डों के हिसाब का भी हो, सस्ता भी हो और इतना काबिल हो कि बच्चा जोकि भविष्य के श्रमिक वर्ग की इकाई है – को ठीक–ठीक उत्पादन के क्रम में तैयार कर सके।

महिलाओं को ही इस श्रम के लिए बेहतर क्यूं माना जाता है, इसके तीन कारण नज़र आते हैं – पहला इस श्रम से जुड़े महत्वपूर्ण काम जैसे खाना बनाना, झाड़ू–पोंछा करना, बच्चा संभालना, ये सब औरत का ही काम माना जाता है। दूसरा ये सभी काम सामान्यतः घर के अंदर के काम होते हैं। तीसरा इस काम के 'व्यक्तिगत सेवा–भाव' के चरित्र के नाते भी इसे औरत का ही काम माना जाता है। चूंकि समाज–आधारित वर्ग–विभाजन पितृसत्तात्मक आधार पर ही है, यह स्पष्ट ही है कि इस विभाजन में बनने वाले वर्ग–सम्बन्ध पुरुष के वर्ग–सम्बन्धों पर ही आधारित होते हैं। सो पितृसत्तात्मक तंत्र के अनुसार घरेलू श्रम के लिए ऐसे श्रम की ज़रूरत भी आन पड़ी जोकि सस्ता हो और इस श्रम के लैंगिक चरित्र से मेल खाता हो। घरेलू कामगार वर्ग में महिलाओं की बढ़ती संख्या इसी का नतीज़ा है। भारत में झारखण्ड, पश्चिम बंगाल, म0प्र0, छत्तीसगढ़ जैसे प्रदेशों के ग्रामीण इलाकों से महिलाओं का बड़ी संख्या में घरेलू कामगार के रूप में पलायन इसका उदाहरण है। 1993 में भारतीय सामाजिक संस्थान द्वारा किए गए एक अध्ययन के अनुसार कुल विस्थापित पुरुषों में 20 प्रतिशत ही घरेलू कामगार के बतौर काम करते हैं।

घरेलू श्रम किसे कहा जाएगा– इसे ठीक–ठीक मापना कठिन है। क्योंकि घरेलू श्रम के काम में एक साथ कई प्रकार के काम करने पड़ सकते हैं। जैसे बच्चा खिलाने से लेकर खाना बनाने तक, घर के बुजुर्गों की सेवा से लेकर कई बार घरेलू सामानों की खरीददारी तक घरेलू कामगारों का श्रम कई स्तरों में बंटा हुआ है। इसके साथ–ही–साथ यह भी कि घरेलू श्रम इन सब प्रकार के कामों का महज योग नहीं, बल्कि मानसिक और भावनात्मक श्रम भी है। जैसे कि खाना बनाने जैसा श्रम भी शारीरिक के साथ–साथ मानसिक और भावनात्मक स्तर के श्रम को जोड़ता है। खाना अधिक से अधिक पोषणयुक्त हो, स्वादिष्ट हो, जल्द तैयार हो सके– ये सब सिर्फ शारीरिक श्रम से संभव नहीं। यहां घरेलू श्रम के उत्पादक और अनुत्पादक चरित्र के बीच की बहस का उल्लेख करना ज़रूरी है। साठ के दशक के बीच छिड़े इस बहस के दौरान ही कुछ स्त्रीवादियों का तर्क आया कि घरेलू श्रम स्वयं श्रम–शक्ति का उत्पादन करता है जो पूर्णतया

पूंजीवाद का केन्द्र है। मार्क्स ने अपने मूल्य बचत के सिद्धान्त में घरेलू अवैतनिक श्रम और पूंजीवादी उत्पादन के बीच के सम्बन्धों के बारे में लिखा है– फिर श्रम–शक्ति के उत्पादन की लागत क्या है? यह कीमत एक श्रमिक को श्रमिक बनाए रखने और पुनः एक श्रमिक के रूप में उसे विकसित करने की कीमत के बराबर है। एंगेल्स ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है–

भौतिकवादी व्याख्याओं के अनुसार, जीवन के तात्कालिक उत्पादन और पुनरुत्पादन ही अन्ततः इतिहास के निर्णायक कारक हैं। इसके पुनः दो स्वरूप होते हैं। एक– जीवन चलाने के साधनों का उत्पादन जैसे रोटी, कपड़ा और मकान और उनके उत्पादन के लिए ज़रूरी उपकरण; जबकि दूसरा स्वयं मानव जाति का उत्पादन और इस जाति का संचालन।

स्पष्ट है, मानव जाति के उत्पादन की यह अवधारणा निश्चित तौर पर किसी भी प्रकार के श्रम–शक्ति के उत्पादन के विचार से ज़्यादा व्यापक है और घरेलू काम का ज़्यादा सटीक वर्णन है। घर को कैसे चलाना है, क्या खाना पकना है, बच्चों को कैसे बड़ा करना है और बड़ों की देखभाल कैसे करना है– ये सब मात्र शारीरिक श्रम नहीं बल्कि एक प्रकार से उस घरेलू श्रमिक की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति है। इस प्रकार पुनरुत्पादन का यह शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक कार्य मात्र श्रम की इकाईयों की ही रचना नहीं करता बल्कि लोगों का सृजन करता है।

घरेलू कामगार पूंजीपति से लेकर मध्य वर्ग और कामकाजी वर्ग तक के घरों में काम करते हैं। उनका रोज़गार इन घरों की आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर करता है। यहीं से उनकी मज़दूरी की स्थिति को भी समझा जा सकता है। एक पूंजीपति के घर में घरेलू कामगार को जो मज़दूरी मिलेगी, वह मध्य और कामकाजी वर्ग के घर पर नहीं मिलेगी। इसके साथ–साथ यह उस घर में रहने वाले लोगों के रुख पर भी निर्भर करता है कि श्रमिक को अपने श्रम का वाजिब दाम मिलता है या नहीं। चूंकि घरेलू कामगार के श्रम का चरित्र ही है, कि वे व्यक्तिगत तौर पर अलग–अलग घरों में काम करते हैं, उन्हें संगठित करना मुश्किल हो जाता है। उस स्थिति में और भी कि वे जिन घरों में काम करते हैं, उन्हीं में रहते भी हैं।

ऐसे ही सवालों के परिप्रेक्ष्य में दिल्ली में घरेलू कामगारों की स्थिति का अध्ययन करने के उद्देश्य से दिल्ली के ही विकासपुरी, हस्तसाल, नारायणा चौक, मायापुरी, कीर्तिनगर, सुभाषनगर इलाकों में रहने वाली लगभग 100 महिलाओं से बातचीत का नतीजा है यह किताब! यद्यपि कि किताब के संरचनात्मक कारणों की वजह से मात्र 10 घरेलू कामगारों की आप बीती ही इस किताब में आ सकी है। साथ ही केस स्टडी की प्रस्तुतिकरण की अपनी सीमाओं के नाते में कहानियों का लघु चित्रण भर है। फिर भी ये दस कहानियां अपने स्वरूप में कहीं–न–कहीं से लगभग समूचे घरेलू कामगारों की अभिव्यक्ति ही है।

दिल्ली में घरेलू कामगारों के लिए लिए मुख्यतः दो प्रकार का घरेलू श्रम दिखने को मिलता है। एक पार्ट–टाईम घरेलू कामगारों का; जिनकी संख्या गत वर्षों में काफी बढ़ी है। ये अलग–अलग घरों में कुछ विशेष काम करते हैं और फिर अपने घरों को लौट जाते हैं। दूसरी श्रेणी में फुल टाईम घरेलू कामगार आते हैं, जो अपने मालिक के घर पर ही रहती हैं। पहली श्रेणी के श्रमिक ज़्यादातर अपने काम की जगह के आस–पास में ही रहते हैं और दूसरी श्रेणी के श्रमिकों में से लगभग सभी पलायन किए श्रमिक ही होते हैं।

दिल्ली सरकार के अन्तर्गत श्रम विभाग ने श्रमिकों के लिए न्यूनतम मज़दूरी तय किया है, जिसका महंगाई भत्ते के अनुसार हर साल पुनः अवलोकन होता है। इसके अनुसार श्रमिकों को तीन श्रेणियों में बांटा गया है– कुशल श्रमिक, अर्द्धकुशल श्रमिक और अकुशल श्रमिक। यहां यह ज़रूर बहस का विषय है कि श्रमिकों के लिए न्यूनतम मज़दूरी को मापने का सरकारी पैमाना कितना सही है और कितना ग़लत। हालांकि यह निर्धारित मज़दूरी भी प्रायः श्रमिकों को नहीं मिलती है। घरेलू कामगारों के बारे में तो यह बात और भी लागू होती है। क्योंकि जैसा कि ऊपर चर्चा हो चुकी है, उनके व्यक्तिगत तौर पर अलग–अलग घरों में काम के चरित्र के नाते उन्हें संगठित करना मुश्किल हो जाता है।

दिल्ली श्रमिक संगठन पिछले 18 सालों से पश्चिमी दिल्ली के इलाके में झुग्गीवासियों के मुद्दों के साथ सक्रिय है। लगभग पिछले तीन

सालों से संगठन ने घरेलू कामगार के मुद्दों को लेकर भी काम शुरू किया है। संगठन के ही प्रयासों का नतीज़ा है कि आज पश्चिमी दिल्ली, दक्षिणी – पश्चिमी, उत्तर–पश्चिमी, उत्तर दिल्ली और दक्षिणी दिल्ली में लगभग 5000 घरेलू कामगार एक मंच पर अपने अधिकारों को लेकर खड़े हो सके हैं। इस बड़े असंगठित वर्ग को संगठित करने के अपने प्रयासों के साथ–साथ संगठन ने इनकी मांगों को प्रत्येक स्तर पर उठाया है। अभी हाल में राष्ट्रीय महिला आयोग के द्वारा घरेलू कामगारों के अधिकारों को लेकर एक मसौदा तैयार किया गया है, जिसमें संगठन ने बतौर समन्वयक और सलाहकार महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। संगठन के पहल और सहयोग का ही निकश है यह किताब जिसमें मुख्यतः संगठन के कार्य क्षेत्र का ही अध्ययन किया गया है।

किताब को तैयार करने में आंकड़ा–संग्रह की पद्धति का इस्तेमाल किया गया। लगभग सौ महिलाओं से बातचीत के बाद उनमें से दस महिलाओं की बातचीत के आधार पर ही उनकी कहानियों का संग्रह किया गया। ये सवाल उनकी ज़िन्दगियों, उनके कार्य–क्षेत्र से जुड़े सवाल थे। इन सवालों के आधार पर जो केस–स्टडी तैयार हुई, उनमें से चुनाव हुआ इन दस कहानियों का। ये दस कहानियां अपनी विभिन्न व्यक्तिगत परिस्थितिगत घटनाओं के बाद भी अपने काम की लगभग एक जैसी परिस्थितियों के नाते आपस में जुड़ती दिखती है। इसी नाते वे असंगठित वर्ग के समूचे घरेलू कामगार वर्ग को भी सम्बोधित करती हैं।

रामकुमारी इस कड़ी की पहली लघु प्रस्तुति है। यह लघु कहानी घरेलू कामगारों से जुड़े कई पहलुओं को सामने लेकर आती है। उस पर चोरी का इल्ज़ाम लगा दिया जाता है। अपनी काम वाली जगह पर दूसरों की गलती के नाते वह चल कर मरते–मरते बचती है। उसकी कहानी इस श्रम के असुरक्षित चरित्र को उजागर करती है। फूला की कहानी एक घरेलू कामगार और फूटलूज़ लेबर की कहानी है। अनीता की कहानी एक स्त्री और एक घरेलू कामगार की कहानी है। पटनी कहानी में पात्र का नाम बदल दिया गया है। इसके साथ ही दिल्ली में उसका निवास–स्थान भी गोपनीय ही रखा गया है। यह कहानी घरेलू कामगार के शोषण और

उसकी असुरक्षा की कहानी है। जहांआरा पुनः एक घरेलू कामगार और एक फूटलूज़ लेबर की कहानी है। नूरजहां और आशा अपने समय से जूझती घरेलू कामगारों की कहानियां हैं। किरन वर्तमान और भविष्य में द्वंद्व में उलझी सामाजिक असुरक्षा से लड़ती कामगार की कहानी है। रेनू बीमारी और अकेलेपन में पनपी एक कामगार की कहानी है। मालती असुरक्षा और पहचान के सवालों से जूझती एक घरेलू कामगार की कहानी है।

दरअसल ये सभी कहानियां अपने समय से जूझती उस असंगठित श्रमिक की कहानियां हैं जो सपने देखती हैं, हताश होती हैं और फिर अपने–अपने पारिस्थितिगत माहौल में जीने के सवालों के साथ वापस खड़ी हो जाती हैं। कभी अपने सपनों के साथ तो कभी अपनी वास्तविकताओं के साथ। ये दस कहानियां इनकी ही ज़ुबान से निकली इनकी ज़िन्दगियों का फ़लसफ़ा हैं।

मेरी कोशिश रही है कि मैं इस किताब में उन सभी सवालों को शामिल करूं, जो इस श्रम के मुद्दों से जुड़ते हैं। इस क्रम में मैं श्रुति के सभी साथियों का धन्यवाद करना चाहूंगी जिनके साथ घरेलू कामगार के मुद्दों पर लगातार हुई हमारी चर्चाओं का निकष है यह किताब। दिल्ली श्रमिक संगठन से रमेन्द्र और अनिता जी तथा उन सभी साथियों का भी हार्दिक धन्यवाद, जो पूरे आंकड़ा संग्रह की प्रक्रिया में मेरे हिस्सेदार रहे हैं। अर्पित का भी धन्यवाद। इस पूरी प्रक्रिया के दौरान हमारी समय–समय पर हुई चर्चाओं ने मेरी अन्तर्दृष्टि को इस क्रम में और विकसित करने में मदद की है।

अन्ततः इस विश्वास के साथ कि घरेलू कामगार के इस असंगठित वर्ग को संगठित पहचान मिल सके, इस वर्ग से जुड़े सवालों को नीतिगत और वैधानिक तर्कों के साथ सम्बोधित किया जा सके और इस श्रम की पहचान इसके संपूर्ण चरित्र के आधार पर प्रतिष्ठित हो सके!

– श्वेता त्रिपाठी

रामकुमारी

रामकुमारी हाज़िर हों।' अर्दली के आवाज़ लगाते ही रामकुमारी को कठघरे में लाकर खड़ा कर दिया गया। रामकुमारी ने धीरे से सर उठाया। पहले अदालत की तरफ देखा। फिर बाहर की तरफ देखा। वहां एक कोने में उसका पति अपने वकील से कुछ बात कर रहा था। उसका ध्यान अभी पूरी तरह से वकील की बातों पर ही था। अदालत के ही दूसरे कोने में सरकारी वकील कुछ पुलिस वालों से बातचीत कर रहा था। सामने की कुर्सियों पर कुछ लोग बैठे हुए थे। शायद इस केस के बाद वे अपनी बारी के इन्तज़ार में थे। रामकुमारी ने अपनी नज़रें वहां से हटा कर अदालत की ऊंची कुर्सी पर लाकर टिका दीं। कुर्सी अभी खाली ही थी। टीवी में तो बहुत देखा था उसने। आज पहली बार सामने से अदालत चलती देखेगी। उसका दिल जोरों से धड़क रहा था। 'पता नहीं ये पुलिस वाले आपस में क्या बात कर रहे हैं? मेरे बारे में ही बात कर रहे होंगे। कह रहे होंगे भारी चोर है। रामकुमारी ने फिर पति की तरफ देखा। पति अब भी वकील से बात करने में ही व्यस्त था। 'ये वकील पता नहीं अपनाकाम कर पाएगा या नहीं। पैसे तो खूब ऐंठे हैं इसने। ये ... अरे ये क्या? ये कौन सी मूरत रखी है ऊंची कुर्सी के पास? हाथ में तराज़ू है। आंख में पट्टी है। अरे हां टीवी में देखी तो है मैंने ऐसी मूरत। लेकिन इसका अदालत में क्या काम? ये तो किसी व्यापारिन की मूरत लगती है। तभी तो हाथ में तराज़ू लिए खड़ी है। लेकिन इसकी आंखों में पट्टी क्यों बांधी जाती है?'

तभी अर्दली ने आवाज़ लगाई 'जज साहब आ रहे हैं। .पया अदालत में शान्ति बनाए रखें।' अर्दली की आवाज़ के साथ ही जज ने पीछे के दरवाज़े से अदालत में कदम रखा और ऊंची कुर्सी पर आकर बैठ गए। रामकुमारी ने फिर बेबसी से अपने पति को देखा। पति ने आंखों ही आंखों में उसे

दिलासा देने की कोशिश की। वह भी बहुत परेशान था। लेकिन और किया भी क्या जा सकता था। 'अब सर पर पड़ा है तो झेलना भी पड़ेगा वकील को भी पैसा तो देना ही होगा। सिकी से उधार मांगना पड़ेगा और क्या। तू चिन्ता मत कर। सब ठीक हो जाएगा।' अदालत में आने से पहले पति ने उसे समझाया था।

'जज साहब यह रामकुमारी है। इस पर आरोप है कि इसने अपनी ही एक काम वाली जगह से गहरों की चोरी की है।' अभियोजन पक्ष के वकील की आवाज़ से रामकुमारी जैसे सोते से जागी। 'जज साहब रामकुमारी पिछले पन्द्रह सालों से दिल्ली के विकासपुरी इलाके के कैम्प नं. चार में रह रही है। यह मूलतः बिहार के समस्तीपुर जिले की रहने वाली है। इनके पति रिक्शा चलाते हैं। खुद रामकुमारी कोठियों में बर्तन धोने और झाड़ू–पोंछे का काम करती है। कुछ दिनों पहले यह कोठी नं. पांच में काम करने गई। वहां इसकी मालकिन ने इसे कुछ गहने अलमारी में संभालकर रखने को दिए। बाद में इसने बताया कि गहने ठीक से रख दिए हैं। लेकिन इसके जाने के बाद जब इसकी मालकिन ने अलमारी खोली तो गहने उसमें नहीं थे। पुलिस में एफ.आई.आर. दर्ज़ कराने पर जब पुलिस वालों ने रामकुमारी के घर की तलाशी ली तो गहने इसी के घर पर मिले।

इससे यह सिद्ध होता है कि गहने इसी ने चुराए थे। इसलिए मैं अदालत से रामकुमारी की जमानत की अर्जी खारिज़ करने की गुजारिश करता हूं और अपील करता हूं कि इसे इसकी कड़ी सज़ा दी जाए ताकि आगे से यह इस तरह की हरकत करने से पहले कई बार सोचे।' अपनी दलील और ज़रूरी कागज़ात पेशकार को सौंपने के बाद अभियोजन पक्ष का वकील वापस अपनी जगह जाकर बैठ गया। अब बारी बचाव पक्ष के वकील की थी। रामकुमारी ने देखा अपनी कुर्सी से उठते समय वकील ने उसके पति को कुछ इशारा किया थ। 'जज साहब मैं मेरे साथी वकील की इस दलील से पूरी तरह असहमत हूं कि रामकुमारी ने कोई गहने चुराए थे। वह बिल्कुल निर्दोष है। बल्कि उसे फंसाया गया है। अपनी बात को साबित

करने के लिए मैं रामकुमारी के पति को विटनेस बॉक्स में बुलाने की इजाज़त चाहूंगा। अगले ही पल रामकुमारी का पति विटनेस बॉक्स में खड़ा था। रामकुमारी जानती थी उसके पति ने उसके लिए कितनी मुसीबतें उठाई हैं। फिर भी उसने उससे कभी शिकायत नहीं की। 'तूने मुझे चार बेटे दिए। मेरा घर चलाया। कमाई में भी मेरी मदद की। हर वक़्त पर मेरा साथ दिया तो क्या मैं तुझे मुसीबत में अकेले छोड़ दूं।' उसने कहा था रामकुमारी से जब दो महीने पहले उसे गिरतार किया गया था। तब से वो हर रोज़ उससे मिलने जेल जाता था।

'मेरी बीवी ने कुछ नहीं किया जज साहब। कोठी वाली झूठ बोलती है। मेरी बीवी उसके यहां कई सालों से काम करती है। एक बार उसने मुझसे पूछा कि वो अपने पैसे कहीं जमा करना चाहती है। मालिक पैसे सामने रहते हैं तो खर्च होते जाते हैं, सो हर महीने वो कहीं पैसे जमा करने का सोच रही थी। इस पर इसकी मालकिन ने इससे कहा कि वो अपना पैसा हर महीने उसके पास जमा करे, फिर कुछ महीने होने पर वो एकमुश्त रकम लेती जाएगी। रामकुमारी ने ऐसा ही किया। डेढ़ साल के बाद उसने उससे पैसे मांगे तो पहले वो टालमटोल करती रही। फिर एक दिन उसने रामकुमारी को एक गठरी में बांधकर कुछ पुराने कपड़े दिए और कहा कि तुम ये कपड़े अपने घर लेती जाना। तुम्हारे बच्चों के और तुम्हारे काम में आ जाएंगे। काम खत्म होने पर रामकुमारी वो कपड़ों के गट्ठर लेकर झुग्गी वापस आ गई। वहां उसने कपड़ों की गठरी रखी और फिर तुरंत दूसरी कोठी पर काम के लिए चली गई। मैं भी उस समय घर पर ही था। बाद में मैं भी काम पर निकल गया। थोड़ी देर बाद मुझे किसी ने खबर दी कि पुलिस वाले हमारी झुग्गी की तलाशी ले रहे हैं। मैं भागा–भागा घर गया तो पता चला कि कोठी वाली ने ही शिकायत डाली थी कि रामकुमारी ने उसके गहने चुरा लिए हैं। और उसी के कहने पर पुलिस हमारी झुग्गी की तलाशी भी लेने आई थी। हमने पुलिस वालों से कई मिन्नतें कीं लेकिन उन्होंने हमारी एक न सुनी। मालिक!' उसकी आंखें डबडबा गईं – 'मेरी

बीवी ने कुछ नहीं किया। कोठी वाली ने हमारे पैसे भी खा लिए और मेरी घर वाली को उल्टा फंसा भी दिया। वह बेचारी तो पहले ही इन लोगों से इतना डरती है। वह ऐसा क्यों करेगी मालिक।' रामकुमारी अपने पति को देख रही थी। हाथ जोड़े उसका पति लगभग रो रहा था। रामकुमारी को अपने आप से घृणा होने लगी। 'कितना रूलाया है मैंने इसे। ज़रा सी खुशी आती नहीं है कि फिर कोई मुसीबत आ जाती है मेरे नाते।' 'तुमने कहा कि रामकुमारी कोठी वालों से डरती है। क्या वे उसके साथ कुछ गलत हरकत करते थे जो वो उनसे डरती है।' बचाव पक्ष के वकील ने मुस्कुमराते हुए अपना अगला सवाल रखा। उसे भरोसा था कि वह वही कहेगा जो उससे कहने को कहा गया है। उसके पति ने थूक घोंटकर अपना गला साफ़ किया। फिर हाथ जोड़कर अपनी बात शुरू की – 'मालिक कुछ साल पहले की बात है। रामकुमारी एक दूसरी कोठी में काम करती थी। एक दिन यह रोज़ के अपने काम निपटाकर उस कोठी पर काम करने गई। वहां कोठी की मालकिन ने इससे अपने बच्चे के लिए दूध गरम करने को कहा। रामकुमारी जब चौके में गई तो वहां उसे गैस की तेज़ महक आई। इसने मालकिन से कहा कि कुछ बदबू कर रहा है। लेकिन मालकिन ने कहा कि सब ठीक है। दूध गरम कर लो। उस मालकिन की बात मानकर इसने जैसे ही लाईटर जलाया, इसके पूरे शरीर में आग लग गई। मालिक, असल में सिलेंडर खुला था। इसके शरीर में आग लगते देख मालकिन समेत घर के सब लोग भाग गए। रामकुमारी आग लगने पर लड़खड़ाकर गिरी, जिससे यह बगल में बाथरूम के कांच वाले दरवाज़े से टकराई और दरवाज़े के कांच टूटकर इसके शरीर में धंस गए। किसी तरह खुद को सम्भालते हुए यह भागती सड़क पर आई। बाहर रोड पर किसी ने पानी डाला। मुझे पता चला तो मैं भागते–भागते वहां बस्ती वालों के साथ पहुंचा। बाद में खबर मिलने पर पुलिस भी वहां पहुंची। कोठी वाले जो ये मान लिए थे कि ये तो मर जाएगी, पुलिस के पहुंचने पर कह दिए कि ये हादसा यहां नहीं हुआ। लेकिन बस्ती वालों और फिर बाद में पुलिस वालों के काफी दबाव के बाद कोठी वाले इसे गाड़ी में डालकर राममनोहर लोहिया अस्पताल ले गए।

अस्पताल में डॉक्टर को पैसा देकर कोठी वालों ने डिस्चार्ज करा लिया। फिर वे इसे अपने घर ले गए। उन्होंने कहा कि वे इसका इलाज़ कराएंगे। मैंने भी मान लिया। लेकिन घर ले जाने के बाद वे लोग मुझे भी इससे मिलने नहीं देते थे। वे कहते थे डॉक्टर ने सबसे मिलने–जुलने को मना कर रखा है। जबकि असल में वहां इसके इलाज़ में बहुत लापरवाही बरती जाती थी। तब मैंने अपने बस्ती वालों के साथ मिलकर उन पर दबाव डाला। उसके बाद इसे जीवन ज्योति में भरती किया गया जिसका पचहत्तर प्रतिशत पैसा कोठीवालों को चुकानापड़ा। मालिक उन लोगों ने तो पुलिस वालों को पैसा देकर अपने खिलाफ केस भी बंद करा दिया। तब से ये कोठी वालों से बहुत डरती है मालिक। हम गरीब लोग हैं। महीने भर रिक्शा चलाता हूं तो पन्द्रह सौ रुपए ही कमा पाता हूं। रामकुमारी चार कोठियों में काम करती है, लेकिन इसे भी कुल पन्द्रह सौ रुपए ही मिल पाते हैं। इसमें से आठ सौ रुपया तो किराए में ही चला जाता है मालिक। हमारे चार बच्चे हैं। किसी तरह हम घर चला पाते हैं। उस हादसे के बाद तो यह इतना डर गई है कि कोठी वालों से पैसा तक बढ़ाने को इसने कभी नहीं कहा। मालिक हम गरीब हैं लेकिन चोर–बदमाश नहीं। आज तक हमने किसी के पैसों को गलत नज़र से नहीं देखा। कोठी वाली ने झूठ कहा है मालिक। रामकुमारी चोर नहीं है।'

पूरी अदालत सांस रोके रामकुमारी की कहानी सुन रही थी। बचाव पक्ष का वकील परेशानी में अपने हाथ मल रहा था। शायद यह वो सब कुछ नहीं था, जो उसने सिखाया था। लगभग तीस–बत्तीस साल की दुबले–पतले शरीर वाली रामकुमारी जिसके दिखाई देने वाले शरीर के पूरे हिस्से का आधे से ज़्यादा भाग जला हुआ था, अपने एक हाथ से दूसरे हाथ की जली हुई त्वचा को पहले खींचकर मुट्ठी में लेती थी फिर छोड़ देती थी। जबसे वह जली थी तबसे जब भी वह कुछ सोचती थी तब वह इसी तरह अपने जले हुए हिस्से से खेलती थी। शायद जली हुई त्वचा की झुर्रियों का एहसास उसके अंदर इतना समा गया था कि उसकी हर याद से उसका रिश्ता हो गया था। तभी अदालत में सन्नाटे को तोड़ते हुए जज

ने कहा– 'रामकुमारी के साथ हुए हादसे का हमें बेहद अफ़सोस है, लेकिन ये कहानी रामकुमारी को बेगुनाह साबित नहीं कर सकती। न ही आपने कोठी वाली के ऊपर अपने लगाए आरोपों का कोई सबूत दिया। अदालत को पुख्ता सबूत चाहिए और वो अब तक नहीं मिले।' वकील की दलील पर जज ने अपना सरकारी फरमान सुना दिया।

बचाव पक्ष के वकील ने फिर अपनी दलील दी। 'जज साहब मेरे पास और भी गवाह हैं। वो तो ठीक है कि आपके पास और भी गवाह हैं। लेकिन क्या इन गवाहों के पास कोई पुख्ता सबूत है? या फिर इनके पास भी अपनी कहानियां हैं? आपके मुख्य गवाह के पास से तो हमको कुछ नहीं मिला। अदालत अपना कीमती समय यूं ही जाया नहीं कर सकती। कुछ पुख्ता हो तो बताइए नहीं तो हमें हमारा काम करने दीजिए।'

'अम्मा–ओ–अम्मा खाना दे दो ना।' बच्चों के शोर से रामकुमारी का ध्यान टूट जाता है। 'हां दे रही हूं। पहले हाथ मुंह धो लो तब न।' बच्चों को खाना परोसते समय रामकुमारी फिर सोचने लगती है 'जमानत तो खैर मेरी बाद में हो गई। लेकिन ये पुख्ता सबूत क्या होता है? बच्चों के बापू से पूछती हूं तो वो ज़्यादा सोचने से मना करने लगते हैं। बस्ती में दूसरे भी यही समझाते हैं कि गाड़ी अब पटरी पर आ गई है तो पुरानी बातें याद करने का क्या फ़ायदा। अरे फ़ायदा हो–न–हो पुरानी यादों का सम्बन्ध है ही न आगे के जीवन से। मेरा ये जला शरीर तो अब मेरी आगे की ज़िन्दगी से जुड़ा ही रहेगा। जेल जाने का कलंक भी रहेगा। और सबसे ज़्यादा तो ये सब झेलने के बाद मेरे अंदर के बैठे डर का संबंध रहेगा जिसके नाते अब हम कोठी वाली मालकिनों से कभी तन्ख्वाह बढ़ाने को कह नहीं पाते। तो क्या हुआ एक कहानी दूसरे से जुड़ती नहीं दिखती। लेकिन मैं तो इन सब कहानियों से जुड़ी हूं न। ना जलने पर मेरे इलाज में जमापूंजी खत्म हुई होती न मुझे नए सिरे से जमापूंजी के लिए नया रास्ता ढूंढना पड़ता। न मैं जेल जाती। लो जुड़ गईं ये कहानियां आपस में। अब समझ में आया उस पट्टी बांधी व्यापारिन का राज़। उसके हाथ का तराज़ू एक पलड़े में सबूत

रखता है। दूसरे में बेगुनाही। इसके साथ ही कानून के नियम में ये दोनों चीज़ें इतनी साफ दिखनी चाहिए कि पट्टी बांधकर भी दिखाई दें। इसके पीछे के तह में जाने की ज़रूरत ही न पड़े।'

रोटी खाते हुए रामकुमारी अचानक ही मुस्करा पड़ती है। आज उसे कानून और न्याय की देवी का राज़ जो पता चल गया था।

फूला

मध्य प्रदेश के महोबा जिले का एक छोटा सा गांव। आज पूरे गांव में होली के रंगों कीधूम मची है। ढोलक की थाप पर फागुन के गीत, लोगों के घरों से आती गुझिए–पुए कीसोंधी महक और जवानों की ठंडई ने अपनी मस्ती में पूरे गांव को भीतर तक अलमस्त कर दिया है। बच्चे तो जैसे आज हवा में उड़ रहे हैं। कोई अपनी पिचकारी में रंग भरकर दूसरे को दौड़ाए जा रहा है। कोई हथेलियों में रंग मलता दूसरे को पटखनी देने के फिराक में है। कुछ बच्चे तो पानी से ही होली खेल रहे हैं। लोगों की हंसी–ठिठोली से पूरा गांव गूंज उठा है।

फूला का बड़ा बेटा भी उन्हीं बच्चों में शामिल है। कभी वह पिचकारी में रंग भरकर अपने दोस्तों को दौड़ाता है, कभी खुद ही "होली है" कहता अपनी पिचकारियों का रंग अपने ऊपर उड़ेलने लगता है। उसके दोस्त भी उस पर रंग डाल रहे हैं। सभी बच्चे इतने रंग चुके हैं कि सब एक जैसे ही लग रहे हैं। आज फूला का बड़ा बेटा बहुत खुश है। उसे वापस अपने पिता के पास दिल्ली जो जाना है। उसके सारे दोस्त उसे खूब मान दे रहे हैं। वो वापस शहरी हो जाएगा ना इसीलिए!

फूला महिलाओं के साथ बैठी फगुहा गा रही है। गीतों के बोल पर सब महिलाएं एक–दूसरे को देखकर आंखों ही आंखों में इशारा करती हैं और फिर इकट्ठे हंस देती हैं। रंगों की मस्ती में वे भी बह चली हैं। फूला भी आज खूब खुश है। लेकिन उसकी आंखें कहीं और टिकी हैं। होली के रंगों की ही तरह न जाने कितने सपनों की चमक है उन आंखों में। कभी खूब हंसती है, फिर अचानक शरमा जाती है। कभी–कभी वो शान्त भी हो जाती है। फिर धीरे से मुस्कुराने लगती है।

सामने पुरुषों की टोली में फूला का पति बैठा है। दोनों आंखों–आंखों में ही अपनी दुनिया बसा रहे हैं इकट्ठे हंस रहे हैं। इकट्ठे गा रहे हैं। और

कभी इकट्ठे चुप हो जा रहे हैं। दोनों उस भीड़ में होकर भी बस एक–दूसरे के साथ हैं। दोनों ही जानते हैं कि ये इस पल की खुशी है और इसीलिए दोनों इसे जी भरकर जी लेना चाहते हैं। लेकिन आने वाले कल की शंकाएं अचानक ही इन खुशियों में भी अपना रास्ता बना लेती हैं। और फिर दोनों शान्त हो जाते हैं। हो भी क्यों न – कोई बीता कल भूल थोड़े पाता है?

करीब पन्द्रह–सोलह साल पहले फूला ब्याह कर इस गांव में आ गई थी। तब उसकी उमर कोई सोलह–सत्रह की रही होगी। ढेर सारी खुशियां और सपने लेकर। उसका पति तो उसे इतना मानता था कि उसका बस चले तो फूला को दिन भर सजा–संवारकर अपने सामने बिठाए रखे। ससुराल वालों का बर्ताव भी बहुत अच्छा था। फूला खुश थी। जो चाहिए था, वो सब उसे मिल गया था। उसने अपने सपनों में इतनी ही दुनिया बनाई थी। खूब मानने वाला पति और उसका जनम भर का साथ।

फिर समय बदला। फूला को एक बेटा हुआ। खेती–बाड़ी तो थी नहीं। फूला का पति खेत–मज़दूरी करता था। लेकिन परिवार बढ़ा तो खर्चे भी बढ़े। हाथ की तंगी ने दोनों को गांव छोड़ने पर मज़बूर कर दिया। फूला को भी कोई दिक्कत नहीं थी। उसका पति तो उसके साथ ही था ना। "गांव छोड़ना पड़ा तो क्या हुआ हम वहां कमा–खा तो सकेंगे। यहां तो सब अपनी नाक ही बचाते रहते हैं। औरत को काम पर नहीं भेजेंगे। ये काम नहीं करेंगे। उस काम को करने में शरम आती है। यही सब कहते रहते हैं। भले घर में रोटी के लाले पड़ जाएं। दिल्ली में ये सब करने की ज़रूरत नहीं होगी। वहां हम दोनों साथ–साथ मेहनत करेंगे। अपने बच्चे को खूब पढ़ाएंगे। बड़ा आदमी बनाएंगे। और फिर इसी बहाने कुछ साल दिल्ली भी तो घूम लेंगे। हमारा बेटा पढ़–लिखकर कुछ बन जाए फिर हम गांव वापस चल आएंगे।" फूला पति को अक्सर समझाती थ्झी।

दिल्ली आकर दोनों ने मायापुरी इलाके की एक बस्ती में अपनी छोटी–सी गृहस्थी बना ली थी। पति ने लोहे की कटाई का काम शुरू कर दिया था और फूला ने कोठियों पर बर्तन–पोंछा का काम पकड़ लिया था।

लेकिन तीन–चार महीने बीतते–बीतते दोनों को सब समझ में आने लगा था। गांव से दूरी बढ़ती ही जा रही थी और दिल्ली तो अपनाने को तैयार ही नहीं थी। गांव से उखड़ जाने के बाद वापस लौटने का सोचो भी तो वहां कमाने–खाने की मुश्किलें गांव के लिए उनके मोह पर भारी पड़ने लगती थीं। और यहां तो दो–दो की कमाई के बाद भी हिसाब का कुछ पता ही नहीं चलता था। फूला के पति को अपने काम का एक हज़ार रुपया मिलता था और फूला को तीन घरों में काम के नौ सौ रूपए। दोनों मिलकर जितना कमाते थे उसमें से पांच सौ रुपए तो किराए में ही चला जाता था। बाकी बचे तेरह सौ रूपयों में पूरा महीना बड़ी मुश्किल से चल पाता था। फिर भी दोनों खूब मेहनत करते और बेटे की पढ़ाई में कमी नहीं आने देते थे। आखिर उसे बड़ा आदमी जो बनाना था।

ऐसे में फूला फिर गर्भवती हो गई। पति खुश था चलो एक से भले दो। आपस में हिल–मिलकर रहेंगे तो दोनों को अकेला नहीं लगेगा। लेकिन बात इतने पर ही निपट जाती तो फिर बात ही क्या थी। फूला का काम बाद में छूट गया था। तबीयत ठीक नहीं रहने से छुट्टी लेने की बात सुनकर कोठी वालियों ने उसे काम से निकाल दिया था। एक आदमी की तन्ख्वाह से घर चलाना असम्भव था। किसी तरह गृहस्थी की गाड़ी चल रही थी। अब तो बेटे की पढ़ाई पर भी असर आने लगा था। आखिर हर महीने किराया, फीस, फूला की दवा–दारू ये सब अब सिर्फ दो हज़ार में कैसे हो सकता था। पैसे का सहारा तो खतम हो ही गया था। अब तो सब कुछ सिर्फ हिम्मत के सहारे चल रहा था। ऐसे में बच्चा जनने के बाद फूला का एक बार फिर गर्भवती हो गई। अबकी बार तो न पैसा बचा, न हिम्मत। आखिरकार उसके पति ने फैसला लिया कि जब तक फूला काम करने लायक नहीं हो जाती तब तक वह बच्चों के साथ गांव जाकर रहेगी। वहां

घर तो है जहां उसे रहने का आसरा मिल सके। यहां तो उसका भी किराया देना पड़ता है। फूला नहीं होगी तो पति बाकी मज़दूरों के साथ रहकर कुछ पैसे तो बचा सकेगा और फूला को भेजता रहेगा। फूला बस अपने पति को देखती रह गई थी। 'सच ही तो कह रहा था वह। यहां रहकर भूखे मरने से तो अच्छा हम गांव जाकर रहें। कम से कम वहां छत तो है। लेकिन गांव से भी तो हम यही सोचकर आए थे। क्या हमारा कहीं बसेरा नहीं है या हमारा बसेरा हमारे शरीर के साथ चलता है।' सोच में पड़ गई थी फूला। 'कहां का है हमारा परिवार? शहर का? जहां काम है? या गांव का? जहां छत है? या दोनों का ही नहीं। क्यूंकि दोनों जगहों से ही तो हम उखड़े हुए हैं। दोनों ही जगहों ने तो हमें नहीं अपनाया। हम तो कहीं बसे ही नहीं। हम सिर्फ उजड़े हुए हैं।'

होली के रंगों में फूला पूरी तरह भीग चुकी थी। आठ साल हो गए थे गांव आए। ये आठ साल फूला ने इसी आस में काट दिए कि उसे फिर अपने पूरे परिवार के साथ रहना है। आज इतने सालों बाद फागुन का रंग फिर चढ़ा है फूला पर। उसके बच्चे अब बड़े हो चुके हैं। फूला फिर उन्हें स्कूल भेजकर अपना काम शुरू कर सकती है। इसलिए इस बार वह भी अपने बच्चों के साथ पति के पास दिल्ली जाएगी। बस इस बार साथ नहीं जाएगा तो बसने का सपना। क्योंकि अब वह सपने नहीं देखती। हक़ीक़त जो समझ लिया है उसने। इसलिए इस बार उसके साथ उसके अनुभव जाएंगे जो 'सिर्फ उजड़ने' की हक़ीक़त को खूब पहचानते हैं।

'होली है' के शोर के साथ फगुहा ही धुन तेज़ होती जा रही थी। फागुन की मस्ती अपने आखिरी चरण में थी। फूला अपने पति के साथ होली के रंगों में घुलती जा रही थी और खुश थी कि अब से ये रंग उसके साथ ही रहेंगे चाहे वह कहीं भी रहे।

अनिता

सुबह के पांच बजे थे। बाहर बस्ती में चहलकदमी शुरू हो गई थी। स्टील की बाल्टियों के टकराने की आवाज़ से अन्दाज़ा लगाया जा सकता था कि पानी के लिए लोग लाइन में लगने लगे थे। अनीता अपनी बेटी पर झुन्झलाने लगी "कहा था, जल्दी सो रहो। सुबह उठने में देर हो जाती हे तो पानी की लाइन में देर तक खड़े रहना पड़ता है। अब लो। आज फिर काम पर डांट सुननी पड़ेगी।" बाल्टी उठाते हुए अनीता ने गहरी नींद में सोती अपनी बेटी पर एक नज़र डाली, फिर बाहर निकल गई। पानी की लाइन सचमुच लम्बी हो चुकी थी। अनीता भी लाइन में अपनी बारी के इन्तज़ार में खड़ी हो गई। 'कैसी हो अनीता?' पड़ोस में रहने वाली गीता अनीता के ही आगे लाइन में खड़ी थी। 'अरे गीता गांव से कब आई?' अनीता ने पूछा। 'कल ही तो! तू भी तो अपने गांव जाने वाली थी ना? इतने सालों बाद गांव जाकर कैसा लगा? तेरे मायके वाले तुझे देखकर तो खूब खुश हुए होंगे ना?' अनीता का मुंह उतर गया। गला साफ करते हुए धीरे से बोली– 'हम नहीं गए।' गीता को सब समझ आ गया। धीरे से अनीता का हाथ दबाई फिर आगे देखने लगी।

वो शादी की रात थी। 'अनीता–ओ–अनीता तेरी बारात आ गई। अरे तू तो बड़ी प्यारी लग रही है री!' सहेलियां चिढ़ा रही थीं। अनिता शर्मा गई थी। उसे देख उसकी मां हंस पड़ी थीं – देख तो कैसे शर्मा रही है। शादी के बाद अनीता की मां ने उसे समझाया था – 'देख बेटा! हम औरत हैं। औरत जितना बर्दाश्त कर सकती है, उतना मर्द नहीं कर सकता। अपने पति और ससुराल वालों का ध्यान रखना। अपने पति की राय के बिना कभी कुछ मत करना। मेरी शादी जब हुई थी तब मैं बारह–तेरह की थी। तब मैंने पूरा घर सम्भाला। तू तो पूरे उन्नीस साल की हो गई है। तुझे क्या समझाना।' विदा होकर अनीता अपने ससुराल आ गई थी। ससुराल में

अनीता को सबने हाथें–हाथ लिया। पति तो हमेशा अनीता के पीछे ही रहता था। कुछ समय तक तो सब ऐसे ही रहा, फिर धीरे–धीरे सब बदलने लगा।

'अरे अनीता तेरी बारी आ गई। पानी नहीं भरना क्या तुझे? ऐसे खड़ी क्यूं है?' – गीता की आवाज़ से अनीता चौंक गई। पानी भरकर चुपचाप अपनी झुग्गी की तरफ बढ़ गई। घर पहुंचकर देखा तो बेटी अभी भी सो रही थी। 'तीसरी में पहुंच गई और अभी तक खुद से जगना नहीं आया।'

बेटी को स्कूल भेजकर अनीता अपने काम पर निकल गई। आज मन कुछ भारी लग रहा था। मिचली जैसा जी हो रहा था। 'इतने दिनों से कोठी वालियों से छुट्टी मांग रही हूं। लेकिन इन लोगों को कभी दया नहीं आती। आज देरी भी हो गई है। अब तीनों कोठियों पर डांट पड़ेगी।' वैसा ही हुआ। पहली ही कोठी पर अनीता को डांट पड़ गई। "हमेशा लेट करती हो तुम। अब फिर तबीयत का बहाना मत बना देना। मेरे पास तुम्हारे बहाने सुनने का आज बिल्कुल भी समय नहीं है। तुमको करना क्या है। एक तुम हो एक तुम्हारी बेटी। फिर भी काम नहीं सम्भलता है। अब जाओ। जल्दी काम निपटाओ।" अनीता दुखी हो गई। "कोई शौक है मुझे अकेले रहने का। सबने छोड़ दिया तो ...।" बर्तन धुलते हुए अनीता फिर पुरानी यादों में चली गई। शादी के कुछ समय बाद ही उसे उसके ससुराल वालों और पति के व्यवहार में फर्क नज़र आने लगा था। उसकी हर बात में नुक्स निकाला जाता था। सास तो उसके पीछे कुछ ज़्यादा ही पड़ी रहती थीं। बात में तो पति ने पीटना भी शुरू कर दिया था। सब कुछ बदल चुका था उसकी ज़िन्दगी में। फिर बाद में पता चला था कि पति के किसी दूसरी औरत से सम्बन्ध हैं। मायके वालों से कहने पर वे ससुराल में ही रहने का ज़ोर देते थे। अन्त में पति ने दूसरी बीवी रख ली और अनीता को ससुराल वालों ने घर से बाहर निकाल दिया। वहां से वापस अनीता अपने मायके आ गई थी। कुछ समय तक वो मायके में ही रही थी। फिर उन लोगों ने उसकी दूसरी शादी कर दी थी।

दूसरे पति के प्यार और विश्वास ने अनीता में नई जान भर दी थी। कुछ समय बाद रोजी की तलाश में दोनों गांव छोड़ दिल्ली आ गए थे। यहां सुभाषनगर बस्ती में दोनों ने अपने लिए रहने की जगह तलाश ली थी। उसके सुनहले सपने फिर अपना आकार लेने लगे थे। दिल्ली आकर दोनों ने अपने–अपने लिए काम ढूंढ लिया था। अनीता ने कोठी का काम पकड़ लिया था। उसके पति ने मज़दूरी का काम ढूंढ लिया था। इसी बीच अनीता गर्भवती हो गई थी। अभी उसकी गृहस्थी ठीक से जमी भी नहीं थी कि गर्भवती होने से दूसरी ज़िम्मेदारी भी सामने आ गई थी। उसके काम में दिक्कतें बढ़ गईं थी। कोठियों से उसे छुट्टी मिलने की कोई उम्मीद नहीं थी। इसी बीच एक दिन उसका दूसरा पति भी अचानक ही उसे छोड़कर गांव चला गया। उसे समझ नहीं आया था अचानक उसके साथ क्या हो गया। वो एकदम से अकेली पड़ गई थी। लेकिन इस बार उसके पास उसकी बच्ची की ज़िम्मेदारी भी थी। अब–कुछ भी सुनहला–सपनीला नहीं रह गया था। समय अपने कठोरतम रूप में उसके सामने था। अनीता ने तय किया कि वो गांव वापस नहीं जाएगी। आसपास के लोगों की मदद से और मायके वालों के सहारे उसकी बेटी दिल्ली में ही हुई। फिर उसने यहीं कोठियों का काम पकड़ लिया था। 'क्या आज इन बर्तनों में ही पूरा दिन लगा देगी?' कोठी वाली की फटकार के साथ अनीता जैसे बहुत गहरी नींद से जागी।

सब काम निपटा चुकने के बाद आज पहली बार उसने अपनी जुबान खोली – 'दीदी महंगाई बहुत बढ़ गई है। जितना कमाओ सब निकल जाता है। हाथ कुछ भी नहीं बचता है। अगर मेरी तन्ख्वाह कुछ बढ़ जाती तो दिन सुधर जाते।' 'शर्म नहीं आती? ऐसा कौन–सा अलग से काम तुमसे लिया जाता है कि तन्ख्वाह बढ़ा दें। महंगाई क्या सिर्फ तुम्हारे लिए है? हमारे लिए नहीं? अरे बर्तन धोने और झाड़ू–पोंछा के काम के लिए पांच सौ कौन देता है? तुम लोग आए दिन कुछ–न–कुछ मांगते रहते हो। आज छुट्टी नहीं मांगी तो तन्ख्वाह बढ़ाने का मांग दिया।" "लेकिन दीदी मैंने तो

पहली बार ही ऐसा कहा है" – अनीता का गला भर आया। "तीन कोठियों मे काम करती हूं उसके पन्द्रह सौ मिलते हैं। इसमें से आठ सौ रुपए किराए में चला जाता है। सात सौ रुपए में महीना कैसे चलाऊँ दीदी।" "जाकर दूसरी कोठी वालियों से क्यूं नहीं कहती हो? सारी समाज–सेवा का ठेका हमी ने ले रखा है। अब जाओ बहुत सुन लिया। मेरे पास और भी काम हैं।" उदास मन से अनीता अपने अगले काम वाली कोठी की तरफ बढ़ चली।

इतने उतार–चढ़ाव देखे थे उसने अपनी ज़िन्दगी में। अब तो तीस–बत्तीस की उमर हो चुकी होगी उसकी। बस बेटी का मुंह देखकर संतोष कर लेती थी। अब तो एक ही इच्छा थी कि बेटी पढ़–लिख कर अपने पैरों पर खड़ी हो जाए बस!

लेकिन आज उसे डर लग रहा था। "क्या एक कामवाली की बेटी फिर कामवाली ही बनेगी? क्या हमारी ज़िन्दगी में ऊपर जाने का कोई रास्ता ही नहीं होता? क्या बेरी बेटी की ज़िन्दगी भी मेरी तरह ...?"

तेज़ कदमों से अनीता बढ़ने लगी। 'नहीं–नहीं! ऐसा नहीं होगा। मेरी बेटी मेरी तरह? नहीं–नहीं! मैं उसे अपनी जैसी ज़िन्दगी नहीं दूंगी। चाहे जो हो ...।" अचानक ही उसके कदम तेज़ जो गए थे। वह बदहवास–सी अपने अगले काम के लिए लगभग भागने लगी थी। जैसे उसने तय कर लिया हो कि उसे समय को पीछे छोड़ देना है और अपने कल को अपनी मुट्ठी में कैद कर लेना है।

पटनी

वह सुबक रही थी। 'नहीं दीदीजी मैंने कुछ नहीं किया। मुझसे कोई ग़लती नहीं हुई। मैं अपने बच्चों की कसम खाकर कहती हूं। मैंने कुछ नहीं किया।; फिर अचानक ही वह फूट–फूटकर रोने लगी। अपने दोनों हाथों से अपना मुंह छिपाते हुए उसने धीरे से कहा 'दीदीजी वो चौपाल वाले मालिक ने मेरी इज़्ज़त खतम कर दी।' मैंने उसके कंधे पर हाथ रखकर उसे दिलासा देने की कोशिश की। 'दीदीजी एक दिन शाम को मैं उनके यहां झाड़ू–पोंछा लगा रही थी। घर पर कोई नहीं था। बस वो मालिक ही था। तभी वो वहां आया और मुझे पटककर मेरी इज़्ज़त लूट ... 'वह रोए जा रही थी। मैं बस उसे देखती रह गई थी। मुझे समझ नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूं। उसे समझाऊं या खुद उसके साथ रोऊं। उसके बीते हुए कल पर दुखी होऊं या उसके आने वाले की आशंकाओं से जूझने में उसकी मदद करूं।

पिछले एक महीने से वह लगातार बीमार रही थी। इस नाते इधर वह काफी कमज़ोर भी हो गई थी। डॉक्टर को दिखाने पर उन्होंने उसे एच आई वी की जांच कराने को कह दिया था। मुझे समझ नहीं आया था कि ऐसा कैसे हुआ?

वह बिहार के सीतामढ़ी जिले के एक गांव की रहने वाली थी। लगभग दस साल पहले उसके पति की पंजाब में एक सड़क दुर्घटना में मौत हो गई थी। उसी समय उसका दूसरा बच्चा पैदा हुआ था। कुछ साल वह अपने दोनों बच्चों के साथ अपने मायके में रही। वहां कमाने–खाने की दिक्कतों के नाते अपने बच्चों को लेकर अपने दूर के रिश्ते के भाई–भाभी के पास आ गई थी। यहां आते ही वह अपने काम में लग गई थी। उसकी भाभी ने अपनी पहचान की कोठियों में उसको काम पर लगवा दिया था। वह सुबह छः बजे से रात दस बजे तक लगातार काम करती थी। उसे

अपने बच्चों को पढ़ाने का बहुत मन था। उसका सपना था कि उसके बच्चे पढ़े–लिखे और बड़े होकर कम से कम उस जैसा न बनें।

उसकी उम्र लगभग पैंतीस–छत्तीस के आस–पास होगी। मैंने पहली बार उसे अपने एक सम्बन्धी के घर देखा था। मेरा घर उनके घर के बिल्कुल पास ही था। उस दिन उन्होंने अपने घर खाने पर बुलाया था। वह मुझे वहीं मिली थी। उस समय वह रसोई में गैस जलाना सीख रही थी। 'दीदीजी ई तो बन्दे नहीं हो रहा।' वह हंसने लगी थी। उसे हंसते देख मुझे भी हंसी आ गई थी। तब वह इस शहर के लिए बिल्कुल नई थी। नई तो वह इस तरह के काम के लिए भी थी। कूकर–गैस, चूल्हा–मिक्सी–आधुनिकता के इन सब उपकरणों से बिल्कुल अन्जान। 'दीदीजी हम गांव में चूल्हा पर खाना बनाते थे न। ये सब हमको नहीं आता है।' मुंह पर हाथ रखकर वो हंसने लगती थी।

बाद में मैंने उसे अपने घर का भी काम सौंप दिया था। मेरे घर पर वह बर्तन धुलने और झाड़ू–पोंछा का काम करने लगी थी। समय बीतते–बीतते वह यहां के तौर–तरीके सीखने लगी थी। लेकिन उसकी छोटी–छोटी गड़बड़ियां अब भी ज़ारी थीं। मिसाल के तौर पर अक्सर वह बर्तन धुलकर उनको रखते समय उनकी जगह बदल देती थी। बाद में उन्हें ढूंढते–ढूंढते अक्सर थक जाती थी। अगले दिन टोकने पर फिर वह उसी तरह मुंह पर हाथ रखकर हंसने लगती थी। 'दीदीजी मैं रख देगी आगे से।' उसकी हंसी देखकर मुझे भी हंसी आने लगती थी। कई बार वह अपनी बेवकूफी की वजह से अपने ऊपर खुद काम डाल लेती थी। और वो भी बिना किसी मतलब के। एक बार मैंने उससे गद्दों को धूप दिखाने को कहा था। पता नहीं उसे क्या समझ आया था, उसके बाद वह रोज़ ही गद्दों को धूप में डाल देती थी। मैंने उसे कई बार इसक लिए टोका भी था। वह फिर हंस देती थी। 'दीदीजी इससे गद्दा खराब नहीं होगा।' कभी मैं बीमार रहती थी तो वह अपने–आप आकर मेरा हाथ दबाने लगती थी। मैं उसे मना करती तो वह रूठ जाती। 'दीदीजी हम नीच जात हैं, इसीलिए ऐसा

कहती है ना'। मेरी समझ में नहीं आता मैं क्या करूं। ऐसा नहीं है कि उसका इस तरह से ध्यान रखना मात्र किसी वर्ग–भाव की वजह से ही था। वह ऐसी ही थी। लोगों की ज़रूरत की छोटी–छोटी बातें उसे याद रहती थीं और अपने काम से सम्बन्धित बड़ी–बड़ी बातें वह भूल जाती थी। उसकी हंसी तो जैसे उसकी पहचान थी। कभी–कभी काम करते–करते वह अचानक ही बहुत तेज़ आवाज़ में चिल्लाती थी 'दीदीजी ...!' उसकी आवाज़ सुनकर जब मैं घबराई किचन में भागती थी तो उसी उत्सुकता से वह पूछती थी। 'बर्तन धोने वाला साबुन कहा रखा है?' मैं अपना सिर पीट लेती थी।

मेरे घर आने वाले सभी लोग उसे पहचानते थे। कभी उसकी बेवकूफियों से, कभी उसके भोलेपन से, कभी उसकी ईमानदारी से, तो कभी उसकी मासूम हंसी से। उसने बहुत धीरे–धीरे दिल्ली जैसे बड़े शहर में अपनी छोटी सी गृहस्थी बना ली थी। एक बार मैं उसे बुलाने उसके घर गई थी। एक छोटी–सी अंधेरी कोठरी। कोठरी भी नहीं, वह एक बहुत छोटा–सा सीलन भरा किचन था – जिसे उस घर के मालिक ने बारह सौ रुपए में उठा दिया था। थोड़ी देर में ही मेरा वहां दम घुटने लगा था। वह फिर भी वहां खुश थी। उसके बच्चों ने पढ़ना शुरू कर दिया था। लेकिन कुछ समय बाद ही उसने बताया था कि उसके बेटे को टीबी हो गया था। तब मैंने पहली बार उसे रोते हुए देखा था। मेरे सम्बन्धी जिनके यहां वह फुल टाईम का काम करती थी, ने उसकी काफी मदद की थी। उसके बेटे को डॉक्टर के पास दिखाना, उसका इलाज़ कराना, ये सब उन्होंने अपने खर्चे से किया था। थोड़ी बहुत मदद मैंने भी की थी। लेकिन अब सोचती हूं कि अगर उसे अपने काम का पूरा हिस्सा मिलता तो न उस सीलन भरी कोठरी में रहती, न उसका बेटा टीबी का मरीज होता। वह दिन भर खटती थी लेकिन उसे अपने काम के सिर्फ पैंतीस सौ रुपए ही हर महीने मिलते थे। दो हज़ार फुल टाईम वाले काम के, बाकी पांच–छः सौ दूसरी जगहों से। उसके काम को घंटों में जोड़ें तो वह लगभग बारह घंटे काम करती थी यानी हर रोज़ बारह घंटे के काम की उसकी मज़दूरी थी सिर्फ एक सौ

तेरह रुपए। कभी–कभी मुझे उसकी हालत देखकर बड़ी बेचैनी होने लगती थी। मैंने उससे एक–दो बार मुंह खोलकर कहा भी था – 'अगर कहीं ज़्यादा पैसा मिलता हो तो बिना संकोच के हमारा काम छोड़ देना।' वह फिर हंस देती थी 'दीदीजी आप लोगों ने हमारी इतनी मदद की, हम कैसे भूल जाएं आपको।' मुझे समझ नहीं आता था मैं उसे कैसे समझाऊं, वह नहीं जानती थी जितना हिस्सा हम सभी ने उसकी मेहनत का खाया था, उसके मुकाबले हमारी वो 'मदद' कुछ भी नहीं थी। एक बार वह खूब खुश होकर मेरे पास आकर बैठ गई थी – 'दीदीजी अब सब फिर ठीक हो गया है। मेरे बेटे की बीमारी खतम हो गई है।' मैंने भी राहत की सांस ली थी।

आज वह फिर रो रही थी। डॉक्टर ने उसकी जांच के बाद उसे एच आई वी टेस्ट कराने को कह दिया था। मैंने और मेरे सम्बन्धी ने जब उससे इस बारे में पूछा था तो उसकी हंसी के पीछे का सारा दर्द अचानक ही उसकी आंखों से बहने लगा था। वह कुल चार घरों मे काम करती थी। एक घर में वह लगभग सात–आठ घंटे का काम करती थी, बाकी घरों में वो झाड़ू–पोंछा और बर्तन का काम करती थी। इन्हीं पार्ट–टाईम के घरों में एक घर के मालिक ने एक बार अकेले में मौका पाकर उसका बलात्कार कर लिया था। मैं उसके मुंह से ये सब सुनकर सकते में थी। उससे भी ज़्यादा बड़ा सदमा मुझे इस बात का था कि वह फिर भी उस घर में काम करने जाती थी। हो सकता है इसका एक कारण हो कि उसने इस हालात के साथ समझौता कर लिया हो। उसे उस घर से अपने काम के पांच सौ रुपए मिलते थे। हो सकता है बाद में उसे कुछ पैसे भी देने की कोशिश की गई हो। अपने हालात को देखते हुए उसने उन पैसों से अपना मुंह बन्द कर लिया हो। आखिर दिल्ली के सबसे महंगे इलाके में अपने दो बच्चों को लेकर तेईस सौ रुपयों में क्या रहा जा सकता है? वह लगातार रो रही थी 'दीदीजी आप हम पर शक मत करिएगा। हम गन्दी औरत नहीं है। दीदीजी आप बताइए अगर हम उसका घर छोड़ देती तो जो एक घंटे के काम का पांच सौ रुपया मिल रहा था, वो भी खतम नहीं हो जाता। दीदीजी इतनी

महंगाई में हम अट्ठारह सौ रुपया में कैसे काम चलाती? दीदीजी हम मर जाएगी लेकिन ऐसा नहीं करेगी।' मैंने देखा – उसकी आंखें रो–रोकर लाल हो गईं थी। उसने फिर कहा – 'दीदीजी हम तो अपने बेटों की ज़िन्दगी बनाने यहां आए थे। काम नहीं होगा तो उन्हें खिलाएंगे क्या। इसी नाते हम नहीं छोड़े ऊ काम को। बच्चों के लिए तो सब बर्दाश्त करना पड़ता है ना दीदीजी।' उसकी गीली आंखें ऊपर उठी थीं। फिर खुद अपने आंसू पोंछकर वह बर्तन धोने चली गई थी। मेरे सारे सवालों का जवाब मुझे मल गया था। इस शहर ने अपनी तेज़ गति में एक बहुत ही प्यारी चीज़ को खतम कर दिया था। उसकी हंसी अब थम चुकी थी। अब वह भी इस सभ्य शहर की नागरिक बन गई थी।

जहांआरा

बच्चों के अब्बा,

कैसे हो? तुम्हारे पैर का दर्द कैसा है? वहां गांव में कोई दिक्कत तो नहीं हो रही है न। हम क्या बताएं? इतनी चिन्ता होती है। लगता है, वहीं आ जाएं। बिल्कुल अकेले पड़ गए हैं हम। किससे कहें अपना दुख। बच्चों से कहना नहीं चाहते। अभी तो हमने साथ रहना शुरू ही किया था। तब तक ये दुर्घटना हो गई। डॉक्टर ने क्या कहा है वहां? कब तक ठीक हो जाएगा पैर का फ्रैक्चर? लेकिन तुम हमारी चिन्ता मत करना। हम सब यहां बिल्कुल ठीक से हैं। वो तो हमें बस अकेला लगता है, सो ये सब कहने लगे। तुम बस अपना ध्यान देना। देखो हमारी बड़ी बेटी की शादी हो ही चुकी है। एक बेटा सिलाई के काम में लग गया है। बाकी दोनों बेटे भी पढ़ाई करने के बाद कहीं–न–कहीं लग ही जाएंगे। फिर हमारी जिम्मेदारी भी खतम हो जाएगी। तुम वहां अपना ध्यान देना। बस यही चिन्ता लगी रहती है कि तुम जल्दी–से–जल्दी ठीक होकर वापस आ जाओ। अब तुम्हारे साथ रहने का मन करता है। फोन पर बात करना बहुत महंगा पड़ता है। इसीलिए बेटे से ये चिट्ठी लिखवाकर भेज रही हूं। जवाब ज़रूर भेजना। और सुनो उसमें अपने हाल के बारे में ठीक से लिखना। आलस मत करने लगना। जल्दी–से–जल्दी जवाब भेजना। तुम्हारी चिट्ठी के इन्तज़ार में ...

तुम्हारी जहांआरा

प्रिय जहांआरा

तुम्हारी चिट्ठी पढ़कर बहुत अच्छा लगा। आज पहली बार पढ़ाई–लिखाई का महत्व ठीक से समझ आया। नहीं तो हम पढ़ भी लें तो करनी तो अंत में मज़दूरी ही है। स्कूल की पढ़ाई का कभी कहीं इस्तेमाल

ही नहीं करना पड़ा। अब मैं तुमसे ढेर सारी बातें तो कर पाऊंगा। फोन पर तो पैसे की चिन्ता के ही नाते ठीक से बात नहीं हो पाती। तुम मेरी चिन्ता मत करना। मैं बिल्कुल आराम से हूं। हां तुम लोगों की चिन्ता जरूर होती है। कैसे खर्चा चलता होगा वहां। सोचकर मेरी जान निकलने लगती है। कम–से–कम महीने के आखिर में तुम्हारे दो हज़ार और मेरा पन्द्रह सौ मिलकर पैंतीस सौ तो हो जाते थे। अब तो मैं भी नहीं कमा रहा। दो हज़ार रुपए में घर कैसे चलता होगा? फिर आठ सौ रुपए किराए का भी तो देना पड़ता है। मैं तुम्हें कुछ नहीं दे सका। बचपन से ही मां–बाप के साथ दिल्ली के उस विकासपुरी इलाके में रह रहा हूं। लेकिन एक झुग्गी तक नहीं खड़ी कर सका। कम से कम झुग्गी अपनी होती तो किराया तो न देना पड़ता। अट्ठारह–बीस साल हो गए शादी को। लेकिन अभी तक हम ठीक से साथ नहीं रह सके। अभी पांच साल पहले तो तुम दिल्ली आई थी। उसी में ये सब हो गया। ये सब मेरी ही ग़लती के नाते हुआ। मैं अपना ध्यान देता तो कम से कम पैर फ्रैक्चर तो न होता। पता नहीं ये सब कब ठीक होगा। मेरी कमाई क्या रुकी, शहर ही छोड़ना पड़ गया। अब तो बस पैर ठीक होने का इन्तज़ार ही है। कभी–कभी मैं सोचता हूं – हम क्या हैं? कहां के हैं? मैं तो बचपन से ही दिल्ली में रह रहा हूं। एक तुम्हारे नाते ही गांव से जुड़ाव था। तुम भी जब पांच साल पहले दिल्ली आ गई वो नाता भी टूट गया। लेकिन अब वापस मुझे गांव आना पड़ा। एक बात मैं समझ गया हूं कि जो दिल्ली मुझे अब तक नहीं अपना सकी, वो अब क्या अपनाएगी। लेकिन गांव से भी तो कबके उखड़ चुके हैं हम। यहां भी तो हमारे पुरखे रहते आए थे। यहां भी तो रोज़गार नहीं मिला तभी तो हम शहर आ गए। इतने सालों से दिल्ली में कमा रहा हूं। एक बार पैर क्या फ्रैक्चर हुआ, वहां के लायक ही नहीं रह गया। शहर ही छोड़ देना पड़ा। कितने अरमानों से तुम्हें ब्याह कर सहरसा से पश्चिम दिनाजपुर लाया था। सोचा था तुम्हें अपने साथ दिल्ली घुमाऊंगा। लेकिन तब दिल्ली में कमाने खाने की दिक्कतों के नाते तुम्हें नहीं ला पाया। अट्ठारह–बीस साल बाद तुम आई

भी तो इस नाते कि अकेले की कमाई से आगे चल नहीं पा रहा था और अब गांव में भी मज़दूरी ठीक नहीं मिल पा रही थी। तब मैंने सोचा था कि चलो किसी नाते सही, अब पूरा परिवार इकट्ठे रहेगा। दो लोगों की कमाई रहेगी तो अब कोई दिक्कत न रहेगी। हम घूमेंगे, खाएंगे, पीएंगे और सुख से रहेंगे। लेकिन जहांआरा ये शहर तो जितना देता है, उससे ज़्यादा ले लेता है। तुमने कोठी का काम सम्भाल लिया। मैंने कारीगरी का। फिर भी हमारी हालत पर कुछ फर्क नहीं पड़ा। हम सुबह–शाम सिर्फ मेहनत करते रह गए। जितनी कमाई हुई, उससे ज़्यादा तो खर्च हो गया। इसी बीच सड़क पर गिरने से ये पैर भी फ्रैक्चर हो गया। इस बार मुझे गांव वापस आना पड़ा।

दिल्ली जहां मैंने अपनी ज़िन्दगी का ज़्यादातर हिस्सा काटा है, उसने मेरा पैर फ्रैक्चर हो जाने पर मुझे ठुकरा दिया। अब समझ में आया वहां बस कमाने वाला ही रहता है। जब मैं कमा रहा था तब मैं था। अब तुम कमा रही हो, तो तुम हो। अब ये मत सोचने लगना कि मैं बहुत सोचता हूं। मैं तो बस अपने दिल का हाल बता रहा था। तुम तनिक भी मत घबड़ाना। डॉक्टर ने कहा है कि हम जल्दी ठीक हो जाएंगे। फिर हम तुम्हारे पास वापस आ जाएंगे। यहां तुम्हारी बहुत याद आती है। बच्चों को भी देखने का भी बहुत मन करता है। हो सके तो चिट्ठी भेजती रहना। तुम्हारी चिट्ठी पढ़कर अकेलापन कम होने लगता है।

तुम्हारा ...

बच्चों के अब्बा,

तुम्हारी चिट्ठी मिली। मन भर आया। इतना सुनकर तसल्ली भी मिली कि तुम ठीक हो रहे हो। वहां अकेले में ज़्यादा सोचा मत करो। ये भी तो सोचो कि तुम्हें इसी बहाने कुछ आराम का मौका तो मिला। यहां तो तुम दिन भर खटते ही रहते थे। मेरा भी मन करता है तुमसे मिलने का। लेकिन यहां तो कोठी वाली सब एक दिन की छुट्टी देने में ही रोने लगती हैं। दस

दिन की छुट्टी के नाम पर तो काम से ही निकाल देंगी। तुम ज़्यादा चिन्ता मत किया करो। हमें तो लगता है कि अच्छा ही हुआ जो गांव से यहां शहर आ गए। वहां तो दिन–भर खेत–मज़दूरी करते–करते आंख से आंसू गिर जाता था। ये अलग बात है कि शहर में कुछ कमाई नहीं हो सकी। लेकिन बच्चों की कुछ पढ़ाई तो हो जा रही है। फिर तुमको क्या लगता है? हम जैसे ग़रीबों का जिनका गांव में ठिकाना नहीं हुआ, उनका शहर में घर हो जाएगा क्या? यहां तो जिनकी झुग्गी नहीं है, वो बनवाने की चिन्ता में घुलते रहते हैं। जिनकी अपनी झुग्गी है, वे उजड़ने के डर से परेशान रहते हैं। फिर तुम्हें बसने का खयाल कहां से आया? ये गांठ बांध लो। हमें अपनी ज़िन्दगी चलाने के बारे में ही सोचना चाहिए। सुख–सुविधा जैसी चीज़ें हमारे लिए नहीं। तुमको कैसे लगा कि जिन्हें गांव नहीं अपना सका, शहर उन्हें अपना लेगा? जैसे गांव में हमें नीच जात कहकर हमसे दूर रहते थे, वैसे ही शहर में कोठी वाले हमें उनके बर्तनों में पानी नहीं पीने दे सकते, शौच तक नहीं जाने देते। जैसे गांव में हम निचला टोला में रहते थे, यहां हम झुग्गी में रहते हैं। दोनों ही जगह तो हमें अछूत–अवैध माना जाता है। फिर तुम शहर से उम्मीद ही क्यूं लगाते हो? जिस कोठी वाली का झूमड़ बीस हज़ार रुपए का हो, वो पांच सौ रुपए मज़दूरी देने में हमें रुला देती है। फिर तुम कैसे सोचते हो कि हम उनकी कोठियों के सामने अपना छोटा–सा घर कभी बना सकेंगे। हम तो बस वहीं के रहने वाले हैं जहां हम मेहनत कर सकते हैं। जहां हमें रोज़ी मिलती है। यही सच्चाई है और हमें ये सच मान लेना चाहिए। सच मान लेने से मन हल्का रहता है। जो चीज़ हमारी हो ही नहीं सकती, उसका सपना क्या देखना? हम तो अपनी ज़िन्दगी जी ही रहे हैं। अब तो बस हमारे बच्चों को इस लायक बनाना है कि कम से कम वो तो सुख से रह सकें। तुमने ठीक ही कहा था यहां बस कमाने वाला ही रह सकता है। इसलिए तुम्हें भी जल्दी ठीक होकर यहां आ

जाना है। तुम तो जानते ही हो। अकेले की कमाई से घर नहीं चल पा रहा। हम सब तुम्हारा इंतज़ार कर रहे हैं। अब जल्दी ठीक होकर आ जाओ। फिर हम सब साथ रहेंगे।

तुम्हारे इन्तज़ार में ...

जहांआरा

नूरजहां

'जिसकी किस्मत में सुख नहीं, उसे सुख कैसे मिलेगा बेटा!' खबर अभी–अभी आई थी। नूरजहां के बेटे की गाड़ी चलाते हुए मौत हो गई थी। अपने पीछे वह अपनी पत्नी और चार बच्चे छोड़ गया था। नूरजहां पर तो जैसे दुखों का पहाड़ टूट पड़ा था। फिर भी उसने अपने को संयत करके अपनी बहू को संभाला था। पश्चिम बंगाल के सिलिगुड़ी में रहने वाली लगभग पैंतालीस साल की नूरजहां ने पहाड़ी इलाके में ड्राईवरी के काम में अपने बेटे को ही नहीं खोया था। लगभग सोलह–सत्रह साल पहले उसके पति की मृत्यु भी इसी काम को करते हुई थी। तब उसका बेटा बहुत छोटा था। पति की मौत के बाद नूरजहां ने किसी तरह मेहनत–मज़दूरी करके अपने इस इकलौते बेटे को पाल–पोसकर बड़ा किया था। फिर एक दिन वो भी आया था जब उसके घर नई दुल्हन उतरी थी। पूरे घर में नई दुल्हन की छम–छम करती पायल ने नूरजहां के खतम हो चुके एहसास को फिर सुनहरा कर दिया था। बहुत लाड़ से रखा था उसने अपनी बहू को।

बहू भी अपनी सास के लाड़ में मैका भूल–सी गई थी। फिर उसके बच्चों ने तो जैसे पूरे घर की खुशियों के पर लगा दिए थे। तीन बेटियां और एक बेटे की दादी नूरजहां अब गृहस्थी चलाने का सारा बोझ अपने बेटे–बहू पर डालकर अपने पोते–पोतियों के साथ मगन से रहने लगी थीं जीवन भर मेहनत करने के बाद अब जाकर उसे आराम करने का सुख मिला था। उसका बेटा ड्राईवरी के काम से घर चलाने का पैसा लाता और उसकी बहू उन पैसों से गृहस्थी चलाती। सब कुछ ठीक चल रहा था।

बेटे की मौत की खबर ने जैसे सत्रह साल पुरानी घटना की याद उसके ज़ेहन में ताज़ा कर दी थी। तब वह बिल्कुल अकेली थी। अपने

इकलौते बेटे को लेकर उसने एक बहुत लम्बा और बहुत कठिन सफ़र अकेले तय किया था। उस समय की याद आते ही नूरजहां की आंखें बन्द होने लगी थीं। 'नहीं–नहीं मैं जब तक ज़िन्दा हूं, तब तक अपनी बहू को ऐसे काम करने नहीं दूंगी। मैं अकेली थीं न, इसके साथ तो मैं हूं। मैं चलाऊंगी इस घर को। आखिर पहले भी तो मैंने ही चलाया था।' नूरजहां ने अपनी बहू की तरफ देखकर उसे दिलासा दिया था।

बाद में नूरजहां ने पहाड़ पर ही मज़दूरी का काम फिर शुरू कर दिया था। सुबह काम पर निकल जाती थी और फिर शाम तक वापस घर आ जाती। लेकिन जल्द ही उसे हक़ीक़त का पता चल गया था। पहाड़ पर जो मज़दूरी उसे मिल रही थी वो इतनी कम थी कि बच्चों को भी पूरी नहीं पड़ रही थी। उसे समझ नहीं आया था वो क्या करे। घर चलाने का जो बीड़ा उसने उठाया था वो अब धुंधला होने लगा था।

इन्हीं दिनों में एक दिन उसकी दीदी उसके घर आई। वह दिल्ली में रहती थी। नूरजहां की माली हालत देखकर उसने उसे अपने साथ दिल्ली चलने को कहा। 'तू परेशान मत हो। पहाड़ पर मज़दूरी का हाल तो बहुत खराब है। दिल्ली की हालत कम से कम इससे तो ठीक ही है। तू वहां कोठियों का काम पकड़ लेना। वहां आसानी से काम मिल जाता है। बस छुट्टी वगैरह की दिक्कत होगी। लेकिन आखिर इस हालत से तो निकलना ही होगा ना।' नूरजहां को भी दीदी की बात सही लगी। दिल्ली में रहने की व्यवस्था नहीं होने के नाते पहले उसे दीदी के पास ही ठहरना था। सो बहू और बच्चों को समझाकर अपनी छोटी पोती को लेकर वो दिल्ली चल दी। दिल्ली पहुंचकर विकासपुरी इलाके में वह अपनी दीदी के पास आ गई। यहां वह पहली बार आईथी। इससे पहले टीवी में ही दिल्ली देखा था उसने। 'दीदी ये दिल्ली शहर तो बहुत बड़ा है न। टीवी में तो बड़ा सुन्दर दिखता है। ऐसा इलाका तो टी वी में कहीं नहीं दिख्खाता।' दीदी की झुग्गी के चारों तरफ देखते हुए उसने पूछा। 'टी वी में तो हमारे जैसे भी

नहीं आते न। वो सब तो कोठियों में रहते हैं। हम नौकर लोग हैं। झुग्गियों में रहते हैं।' उसकी दीदी ने वहां के बारे में उसे बताया था। 'दीदी ये कोठी वाले तो बहुत पैसे वाले होंगे न। चलो अच्छा है। पैसे वाले होंगे तब तो हमें अच्छा पैसा देंगे न।' दीदी ने कुछ कहा नहीं था। बस मुस्करा भर दी थी।

नूरजहां ने विकासपुरी की ही कोठियों से अपना काम शुरू किया था। पहला दिन–पहली कोठी। वह काफी खुश थी। 'चलो अच्छा है दीदी ने बात कर ली है लोगों से। अब मुझे अपने बारे में ज़्यादा नहीं बताना पड़ेगा।' कोठी वाली ने पहली ही मुलाकात में उसे बात दिया था कि वह नई है और अभी उसे काम सीखना है। इसलिए वो झाड़ू–पोंछा और बर्तन के उसे तीन सौ रुपए ही देगी। नूरजहां को समझ नहीं आया था कि झाड़ू–पोंछा में अब क्या सीखना है? यही तो वह ज़िन्दगी भर करती आई है। फिर भी पहाड़ पर मज़दूरी की तुलना में ये मज़दूरी उसे काफी ज़्यादा लगी, सो उसने हां कर दी। धीरे–धीरे उसने अपना काम पांच कोठियों तक बढ़ा दिया। इससे उसे महीने में लगभग एक हज़ार रुपए मिलने लगे थे। बाद में दीदी की झुग्गी छोटी होने के नाते उसने अपनी एक अलग झुग्गी किराए पर ले ली थी। फिर पोती को भी सरकारी स्कूल में दाखिला दिला दिया था। इसमें से तीन सौ रुपए तो किराए में ही चला जाता था। बाकी के पैसों में से कुछ तो घर चला जाता था, कुछ पोती की फीस में चला जाता था। हां दिल्ली में जीने–खाने के लिए ज़रूर कुछ नहीं बच पाता था। किसी तरह दीदी की मदद से नूरजहां अपना महीना खतम करती। उसने सोचा था कि कुछ समय काम कर लेगी, तो ज़रूर तन्ख्वाह बढ़ने पर सब ठीक हो जाएगा।

ऐसे ही काम करते लगीग पांच साल बीत गए। इस बीच कुछ तन्ख्वाह बढ़ी लेकिन वो नाममात्र की ही थी। और उससे भी तेजी से महंगाई, किराया और स्कूल की फीस बढ़ गए थे। फिर एक दिन वह भी

आया जब बहू और नाती–पोतियों का हाल–चाल लेने की खातिर कुछ दिनों के लिए उसे वापस सिलिगुड़ी जाना पड़ा। 'दीदी मैं जल्दी आ जाऊंगी।' किसी तरह कोठी वालियों से अपनी छुट्टी मंजूर कराई थी। एक दूसरी काम वाली को अपनी जगह लगा भी दिया था उसने। लेकिन एक महीने बाद वापस दिल्ली आने पर उसे पता चला कि उसकी काम वालियोंने उसे काम से निकाल दिया है। बहुत कोशिश करने पर उसे दो घरों में काम मिल सका। एक घर में चार सौ पचास रुपए और दूसरे घर में पांच सौ रुपए पर कोठीवालियों ने उसे झाड़ू–पोंछा और बर्तन धोने के काम पर रख लिया। छः साल पहले पन्द्रह सौ रुपए पाने और तीन सौ रुपए किराया देने वाली नूरजहां अब नौ सौ रुपए की कमाई में से छः सौ रुपए किराने का देने लगी थी। अब वह बहू को पैसे नहीं भेज पा रही थी।

जिसके लिए वह आई थी, उसी के लिए वह कुछ नहीं कर पा रही थी। वह समझ नहीं पा रही थी ऐसा उसके साथ क्यूं हुआ। पति चला गया, बेटा गुज़र गया, फिर भी अंदर अरमान बच गए थे। क्या चाहती ही थी वह। यही न कि बहू को अपने जैसे खटने नहीं देगी।

'क्या गरीबी हमारी पूरी पीढ़ी को ही खतम कर देगी? क्या एक गरीब आदमी अपनी अगली पीढ़ी के लिए कुछ भी सोचने का हक भी नहीं रखता? हम जैसों की हालत क्या कभी सुधर नहीं सकेगी?' नूरजहां इन सवालों से जूझ ही रही थी कि उसकी पोती ने उसे आवाज़ लगाई – 'दादी खाना दो न। नूरजहां ने भगोने का ढक्कन हटाकर उसमें पड़ी दो रोटियां और अचार अपनी पोती को दिए और खुद बिस्तर पर आकर लेट गई। 'तुम नहीं खाओगी दादी। 'नहीं तू खा ले। मुझे भूख नहीं है।' पोती को खाने का कहकर वो सोच में पड़ गई। आज ही उसने दीदी से फिर उधार मांगे थे। सोचते–सोचते उसकी आंख कब लग गई, उसे पता ही न चला। सुबह आंख खुलने पर जैसे उसने कुछ तय कर लिया हो। लड़खड़ाते कदमों से

वह पी सी ओ की तरफ भागी और सिलिगुड़ी फोन कर बहू से बात की 'बेटा अब मैं बूढ़ी हो गई हूं। अब मुझसे अकेले नहीं हो पा रहा। तू भी .... 'कहते–कहते नूरजहां फूट–फूटकर रोने लगी। दिन चढ़ आया था। दिल्ली फिर अपनी गति से वहीं से आगे बढ़ने लगी थी, जहां वो कल रुकी थी।

आशा

'मां तुम परेशान क्यों होती हो? अब तो मैं भी कमा रही हूं। दोनों मिलकर भी क्या घर नहीं चला पाएंगे? फिर हमारे घर पर कौन ढेर सारे लोग हैं? हम दो ही तो हैं। मां ... तुम फिर क्या सोचने लगी? कितना सोचती हो? चलो उठो मैंने रोटियां सेंक ली हैं। बैठ जाओ तो खाना खा लें। मां तुम फिर सोचने लगी क्या?'

आशा खामोशी से बेटी पर एक नज़र डालती है और खाना खाने बैठ जाती है। हर महीने का यही हाल है। मां–बेटी खूब मेहनत करके पूरे महीने सपने सजाती हैं कि अगले महीने सौ रुपए ज़रूर बचा लेगी लेकिन महीने का पहला हता बीतते सब खत्म हो जाता है। कभी–कभी तो पहला हता भी पूरा नहीं पड़ता। फिर किसी से उधार मांगकर काम चलता है। इस महीने भी तो यही हुआ। महीना शुरू होते ही बीमार पड़ गई। तेज़ बुखार में भी छुट्टी नहीं मिली। एक–दो दिन काम से नागा भी किया लेकिन फिर ज़्यादा नागा भी तो नहीं कर सकते न। काम से निकाल दी तो? तेज़ बुखार में भी काम करना पड़ा और दवा–दारू का खर्चा लगा सो अलग। महीने के हते में ही पैसा कम पड़ने लगा। 'अब तो फिर किसी से उधार मांगना पड़ेगा। इतने दिन हो गए बड़ी बेटी–दामाद से मुलाकात हुए। कितना जी करता है उन्हें देखने का। लेकिन इस फटेहाल उनसे कैसे मिलूं? दामाद को कुछ नेग भी नहीं दे सकते। लेकिन भूखे तो विदा नहीं कर देंगे न। पता नहीं ये सब कब खत्म होगा। अब तो खैर क्या ठीक होगा। बस छोटी बेटी की शादी मेरी आंख बन्द होने से पहले हो जाए।' 'मां तुम खाना क्यों नहीं

खा रही हो? इतना मत सोचो। मैंने कहा ना अब तो हम दोनों ही काम रहे हैं। धीरे–धीरे सब ठीक हो जाएगा। फिर हम पैसे बचा सकेंगे। हर महीने सौ रुपए।' बेटी ने मुस्कुराते हुए आशा के कंधे पर थपकी दी।

'यानी अगले कुछ महीने उधार चुकाने में ही निकल जाएंगे।' शून्य में देखते हुए आशा ने कहा। बेटी का मुस्कराता चेहरा मुरझा गया। भर्राए गले से बोली – 'इतना क्यूं सोचती हो मां। इतना सोचकर ही तुमने अपनी तबीयत खराब कर ली है। मैं जानती हूं तुम्हें पैसे क्यूं बचाने हैं। मेरी शादी के लिए ही ना। तुम्हें इतनी जल्दी क्यूं पड़ी है शादी की? कौन शादी के बाद सब ठीक हो जाता है। दीदी के पति कारीगरी काम करते हैं ना। जाओ पूछो उससे। क्या उसके घर में सब ठीक है क्या? क्या वहां पैसे की किल्लत नहीं है? मां हमारी ज़िन्दगी रोज़ कमाने–रोज़ खाने पर ही चलती है। हम सभी एक जैसी हालत में ही है। हमारी पूरी बस्ती में किसी एक घर में जाकर पूछ लो। हर जगह ऐसी ही दरिद्रता बैठी होगी। रही बात शादी और पति की तो मां शादी के बाद तुमने क्या सुख भोगा? मैं नौ महीने की ही थी ना जब बाबा ने तुम्हें छोड़ दूसरी शादी कर ली थी। फिर उसने तुम्हें कभी पलटकर पूछा तक नहीं। फिर तुम कैसे कलकत्ते से अपनी मौसी के साथ दिल्ली आई और कैसे तुमने हम बहनों को पाला पोसा – ये हमसे छिपा नहीं है। अगर उस समय नानी ने हमें सम्भाला नहीं होता तो न तो तुम काम कर पाती न हमें सम्भाल पाती। तीस साल हो गए बाबा को गए। कभी उन्होंने हमें पलटकर पूछा तक नहीं। इतना सब होने पर भी तुम क्यों सोचती हो कि मेरी शादी हो जाने पर सब ठीक हो जाएगा। मान लो मेरा पति मेरे साथ टिक भी गया तो भी क्या उसके खर्चे से घर चल जाएगा। हमारी ज़िन्दगी में जो कमाएगा वही यहां टिक पाएगा जो नहीं कमाएगा उसे अपने गांव वापस जाना पड़ेगा। यहां कोई किसी को नहीं खिला सकता। सब अपने–अपने लिए कमाते हैं।'

आशा चुपचाप बैठी बेटी को सुन रही थी। 'ठीक ही तो कहती है हमारे घर में हम दो हैं। दोनों ही कमाते हैं। एक बैठ जाए तो दूसरा क्या दोनों को खिला सकेगा। इतना खटते हैं दोनों। तीन कोठियों पर मैं काम करती हूं। तीन पर बेटी काम करती हैं। बेटी को तो फिर भी पन्द्रह सौ रुपए मिलते हैं। मुझे तो केवल एक हज़ार रुपए ही मिलते हैं।, जिसमें से पूरी की पूरी तन्ख्वाह किराए में चली जाती है। फिर बाकी के पैसे में पूरा महीना चलाना पड़ता है। पचास साल की मैं हो गई। पच्चीस साल हो गए मुझे दिल्ली के इस नारायणा इलाके में आए। एक पूरी पीढ़ी खतम हो गई। लेकिन हमारी ज़िन्दगी में कुछ नहीं बदला। अब तो बस एक ही इच्छा है कि इसकी शादी ... लेकिन शादी के बाद भी सब कुछ ठीक हो जाए ये ज़रूरी तो नहीं। मैंने कितना सहा है। मायके वालों ने साथ नहीं दिया होता तो ...।'

'मां तुम फिर कुछ सोचने लगी। लेट जाओ मां। सोना नहीं है क्या? इतना मत सोचो कि तबीयत और बिगड़ जाए। सुबह काम पर भी जाना है। देखो मां हम आगे का कुछ नहीं सोच सकते। हमें इसका अधिकार ही नहीं है। हमारा सोचा होता भी कहां है? और पिछला सोचते हैं तो दुख ही होता है। तो क्यों न हम आज ही में रहें। बिना सोचे–बिना समझे रोज़ सुबह उठकर अपना दिन निपटाने में और कुछ हो न हो, एक फायदा ज़रूर होता है मां सपने टूटने का डर नहीं होता। और न पिछले सपनों की याद आती है।' मां का हाल देख बुझी आवाज़ में आशा की बेटी ने उससे कहा।

आशा ने नज़र भर अपनी बेटी को देखा। फिर जैसे सब समझ गई। धीरे से बोली 'चल अब सो जा। हम अगले महीनों से पैसे जमा कर लेंगे। तेरी शादी जो करनी है।' हर रात वो उम्मीदों की नई तस्वीर इसी तरह बनाती थी और अगली शाम तक आते–आते उनका शोक मनाती थी। उम्मीदों के बनते–बनते ही उनका सच सामने आने लगता था। रोज़ की ही

तरह आशा ने आज फिर सोने से पहले उम्मीद जगाई थी। थकी–हारी अपनी मां की अधूरी उम्मीदों को फिर संजोता देख उसकी बेटी की आंखें भर आई। टूटते आंसू टूटे सपनों के साथ बह रहे थे और गीली आंखें अपने गीलेपन में उस दर्द के एक–एक एहसास को सोखती जा रही थी।

किरन

शाम ढल चुकी थी। लम्बे कदमों से किरन अपनी खोली की तरफ बढ़ रही थी। उसकी झुग्गी नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया के संजय कैम्प में थी। आज उसे काम से लौटने में काफी देर हो गई थी। 'जाड़े की शाम है। कहा था कोठी वाली से कि ज़रा जाड़े में जल्दी छोड़ दिया करे। लेकिन वो मानती ही नहीं है। और तो और – आए दिन मेहमान भी आते रहते हैं। इतने बर्तन बढ़ गए थे आज। सात के साढे सात बज गए। जवान बेटी घर में अकेली है। बस्ती में वैसे ही आए दिन कोई न कोई हंगामा होता रहता है। आज तो लड़के को भी घर जाना था। वो घर पर नहीं होगा।'

खोली पहुंची तो देखा बेटी खाना पका रही थी। किरन चुपचाप वहीं कोने में बैठ गई। 'पानी पिओगी अम्मा' – बेटी के पूछने पर हां की मुद्रा में सिर हिलाते हुए उसने धीरे से पूछा 'आज बस्ती में सब कैसा रहा।' 'ठीक' – बेटी ने संक्षिप्त सा उत्तर दिया और फिर अपना काम करने लगी। राहत की सांस के साथ किरन ने हाथ–मुंह धोया और आटा गूंथने बैठ गई। 'अम्मा पापा को आज लेट हो जाएगा।' 'अच्छा ठीक है। इस महीने काम ज़्यादा है। एक भी छुट्टी नहीं मिली। ठेके के काम में ऐसा ही होता है। ठीक ही है। तीन हज़ार रुपया महीने में एक–डेढ़ हज़ार का मुनाफ़ा और हो जाएगा। चल हम लोग खाना खा लेते हैं। तेरे भाई ने तुझे बताया कि वो कब आएगा?' 'आता ही होगा अम्मा। कहा तो था उसने कि दिन ढलते ही आ जाएगा।'

बाहर बस्ती में अचानक ही शोरगुल की आवाज़ के साथ मां–बेटी की बातचीत भी खतम हो गई। किरन ने धीरे से किवाड़ के बाहर झांका। बाहर

बस्ती के ही दो–तीन आदमी शराब पीकर एक–दूसरे से लड़ रहे थे। चुपचाप किवाड़ भिड़ाकर किरन बिस्तर पर बैठ गई। 'इन सबको देख लो तो मन खराब हो जाता है। घर वालों का नाक कटाने पर लगे हुए हैं। बड़की की तो शादी हो गई। तेरी भी जल्दी हो जाती तो ज़िम्मेदारी से मुक्त होते। यहां बस्ती में तुझे अकेले छोड़ने का मन नहीं करता।' 'छोड़ो न अम्मा। इतना परेशान क्यों होती हो। चलो रोटियां तैयार हो चुकी हैं। बैठो तो लगा दूं।' बेटी के बुलावे पर अपनी उधेड़बुन में उलझी किरन चुपचाप खाने बैठ गई।

सुबह नींद खुली तो बाहर बस्ती में कोहराम मचा हुआ था। बस्ती का ही एक आदमी नाली में पीकर गिरा पड़ा था। उसके सिर पर चोट लगी हुई थी जिससे काफी खून बह चुका था। उस आदमी के घर वाले एक दूसरे परिवार के आदमी को कोसं रहे थे जो शायद इसके साथ शराब पीता था। किरन का मन खराब हो गया। उसका पति अभी सो ही रहा था। रात उसे आने में काफी देर हो गई थी। 'ये तो हद ही हो गई। जब देखो तब यहां झगड़ा बवाल होता ही रहता है। समझ में नहीं आता क्या करूं। घर में बेटी दिन भर अकेली रहती है। हर समय इसकी चिन्ता सताती रहती है। यहां का माहौल भी बद से बदतर होता जा रहा है।'

किरन हाथ–मुंह धोकर अपने काम पर निकल पड़ी। उसकी उमर कोई चालीस बयालीस साल की होगी। चार घरों में झाड़ू–पोंछा–बर्तन का उसे दो हज़ार रुपया महीना मिल जाता है। रोज़ सुबह छः बजे इसी तरह वो काम पर निकल जाती है। घर वापस लौटते उसे दिन के दस बज जाते हैं। फिर घर का काम निपटा कर थोड़ा आराम करके वो फिर चार बजे तक काम पर निकल जाती है। वापस लौटने में उसे सात–साढ़े सात बज जाते हैं। जल्दी घर लौटने की चिन्ता में किरन आज ज़रा जल्दी ही काम पर निकल गई थी। 'मोहल्ले में रोज़–रोज़ की किचकिच से मन भारी हो जाता

है। पता नहीं ये कब समझेंगे कि इन सब कामों से इन्हीं सबों का नुकसान होता है। बेटा दसवीं में है। बोर्ड की परीक्षा देनी है उसे। उसकी भी पढ़ाई में इतनी तकलीफ होती है इस माहौल से कि दोस्त के घर जाना पड़ता है। बेटे की दिक्कत को तो निपटाया भी जा सकता है। बेटी को इस गंदे माहौल से कैसे दूर करें। झुग्गी तो खड़ी कर ली है, लेकिन है तो कच्ची ही। कहीं सब पी–पाकर घर में घुस ही गए तो? नहीं–नहीं अब बहुत हो चुका। आज घर लौटकर इनसे बात करनी ही पड़ेगी। कुछ तो इलाज ढूंढना ही पड़ेगा इसका। आखिर कब तक इस डर के साथ रहेंगे। ये भी घर पर नहीं रहते। मुझे भी काम पर जाना पड़ता है। बेटे को पढ़ाई करनी होती है। आखिर हम बेटी को इस तरह असुरक्षित तो नहीं छोड़ सकते न।'

आज का दिन किरन ने इसी उधेड़बुन में निकाल दिया था। रात में पति के काम में वापस आने पर उसने अपना डर ज़ाहिर कर दिया। उसका पति परेशान हो गया। 'अरे तुमको क्या लगता है। हमको चिन्ता नहीं होती है। बस्ती का माहौल भी हमें परेशान किया रहता है। समझ में नहीं आता है क्या करें। शादी के लिए भी वो अभी छोटी है। फिर ठीक–ठाक शादी मिलना भी तो आसान नहीं। पैसा चाहिए। समय चाहिए। क्या करूं। मेरी भी हिम्मत छूटने लगती है। 'एक रास्ता है जी। अभी कुछ ही दिन पहले मेरी कोठी वाली ने मुझसे एक काम वाली के बारे में पूछा था। पन्द्रह सौ रुपए देंगे एक महीने का। मैं भी जानती हूं उन्हें। भले लोग हैं।' किरन का पति बिगड़ गया। 'पागल हो गई है क्या? हमारी बेटी अब अपने घर से ज़्यादा दूसरों के घर सुरक्षित रहेगी? तू सोच भी कैसे सकती है? खुद ही बताती है। कोठी का काम करने में बहुत मन मारना पड़ता है। वो लोग अछूत जैसा व्यवहार करते हैं। बर्तन से लेकर पेशाब के लिए बाथरूम तक अलग किए हुए हैं। दिन भर में कुल जमा सात–आठ घंटा तो तू उनके यहां काम करती है। उस पर इतना बुरा लगता है। फिर उसे कह रही है चौबीस

घंटा वहीं रहने को। तेरा दिमाग तो नहीं खराब हो गया?' किरन शान्त हो गई। फिर धीरे से बोली – 'इज़्ज़त से ज़्यादा बड़ा मन थोड़े है जी। अगर सुरक्षा है तो बर्तन–बाथरूम जैसी चीज़ें तो जी समय के साथ आदमी खुद ही भूल जाता है। फिर हम अपना मन देखने लगेंगे तो इतने बड़े शहर में काम नहीं कर पाएंगे। हम यहां कमाने आए हैं। ये सब छोटी–छोटी चीज़ों पर ध्यान देकर मन खराब ठीक नहीं। ये तो देखो वहां पैसा भी मिलेगा और सुरक्षा भी मिलेगी। फिर बेटी के लिए सुरक्षा से ज़्यादा ज़रूरी तो कुछ नहीं है ना?' 'लेकिन तुम इतने इत्मीनान से कैसे कह सकती हो कि वहां सुरक्षा होगी?' 'मैं मिल चुकी हूं उनसे। मेरी कोठी वाली के यहां आए थे वो लोग एक बार। अच्छे लोग हैं। छुआ–छूत की बात छोड़ दो तो उसे वहां कोई तकलीफ नहीं होगी। और बेटी की सुरक्षा रहेगी तो हम अपना काम भी ठीक से कर पाएंगे। देखोजी, ऐसा तो हो नहीं सकता ना कि मैं काम छोड़कर उसकी रखवाली करूं। खाली तुम्हारी तन्ख्वाह से काम चलाना पड़े तो हमें वापस गोरखपुर अपने गांव लौट जाना पड़ेगा। कुछ दिन की ही तो बात है। फिर तो हम उसकी शादी कर ही देंगे। देखिए जी शरीर की इज़्ज़त ही हम बचा सकते हैं। बाकी बची मन की इज़्ज़त तो उसे तो हम कबका भूल गए। अब उसके बारे में सोचकर क्या मिलेगा। आप निश्चिन्त होकर सो जाओ। हमारी बेटी बिल्कुल ठीक रहेगी। फिर उसे पैसे भी मिलेंगे जो उसी शादी में काम आ जाएंगे। और हमें क्या चाहिए। आप बस आराम कीजिए। मैं सब देख सुनकर ही करूंगी।' माथे पर परेशानी की लकीरों के साथ किरन का पति हल्का–सा मुस्कुराया– 'चलो ठीक है। जैसा तुम्हें ठीक लगे। वैसे गृहस्थी तो तुम्ही सम्भालती हो। लेकिन क्या हमारी बेटी ये सब समझ पाएगी?' किरन भी मुस्करा पड़ी, 'चलिए अब सो जाइए। सुबह फिर आपको काम पर जाना है। इधर वैसे ही आपको आराम नहीं मिल रहा है।'

रात काफी गहरी हो गई थी। किरन और उसका पति भी नींद के इन्तज़ार में बिस्तर पर लेट चुके थे। दोनों ही अपनी–अपनी करवटों में अपनी–अपनी चिन्ताओं के साथ उलझे हुए थे। एक की चिन्ता बेटी के जीवन से जुड़ने वाले नए सफर से सम्बन्धित थी तो दूसरे की चिन्ता उस सफर की तैयारियों में लगी हुई थी। एक नए सफर की असुरक्षा को नापने–तौलने में लगा था तो दूसरी पुराने सफर की असुरक्षा से मुक्त महसूस कर रही थी।

किरन के पति ने करवट बदल कर किरन की तरफ देखा। उसकी आंखें ऊपर छत पर गड़ी हुई थी। बाहर की कई आवाज़ों से मुक्त होने की निश्चिन्तता उसकी आंखों में साफ झलक रही थी।

उसने धीमे से किरन से कहा – 'तुम भेज तो रही हो। लेकिन ये याद रखना कि अगर वह अपने घर में ठीक से सुरक्षित नहीं है तो दूसरी जगह भी नहीं होगी। अब हम उसकी शादी जल्द–से–जल्द करा देंगे। नहीं तो वह यहां–वहां दौड़ती ही रहेगी। शायद शादी के बाद ही उसकी ज़िन्दगी को सुरक्षित ठहराव मिल जाए!'

रेनू

आज रेनू तड़के ही उठ गई थी। सात बजे सुबह वाली ट्रेन से उसे कलकत्ता जाना था। दो दिन पहले ही खबर आई थी। खबर सुनकर वह सकते में आ गई थी। समझ नहीं आया था कि क्या करे। किसी तरह खुद को सम्भालते उसने आस–पड़ोस में मांगकर पैसे इकट्ठे किए थे और कलकत्ते जाने की तैयारी की थी। उमर से लगभग पैंतालीस साल की रेनू विकासपुरी के कैम्प नं. चार में दो घरों में झाड़ू–बर्तन का काम करती थी। इसके लिए हर महीने उसे ग्यारह सौ रुपए मिलते थे।

कोठी वालियों ने छुट्टी के नाम पर ही मुंह बनाकर पूछा था – 'यहां घर का काम कैसे चलेगा? पहले ही इतना काम होता है यहां।' बाद में अपनी बस्ती की ही एक लड़की को लगाकर रेनू ने अपने कलकत्ते जाने की व्यवस्था की थी।

जैसाकि होता अया है, भारतीय रेल के ठाठ का मान रखते हुए गाड़ी समय से आधा घंटा देर से खुली। जनरल श्रेणी के डिब्बे में आज काफी भीड़ थी। लोग ठसाठस भरे पड़े थे। हालांकि सावन की सुबह के नाते मौसम में उतनी गर्मी नहीं थी। फिर भी भीड़ ने बोगी के भीतर के मौसम को भी अपने असर में ले लिया था। पैर फैलाने तक को जगह नहीं थी। वहीं एक कोने में रेनू ने भी अपने बैठने भर को जगह बना ली थी। बगल में ही एक औरत अपने दुधमुंहे बच्चे को लिए बैठी थी। इतनी भीड़ में बच्चा भी परेशान हो गया था। लगातार रो–रोकर उसने बुरा हाल कर लिया था। बच्चे का रोना सुन खिड़की के पास बैठे एक यात्री ने उस महिला को अपनी सीट दे दी थी। वहां बेठते ही बच्चा शान्त हो गया था। रेनू की निगाहें उसी बच्चे पर थी। बच्चे की हर हरकत के साथ रेनू के चेहरे के भाव भी बदल

जाते थे। उसके चेहरे की उदासी और भी गहरा गई थी। 'इतना–सा ही तो था वो। उसकी एक किलकारी को सुन कैसे हम अपनी सारी परेशानी भूल जाते थे।'

अचानक बच्चे की चीख से रेनू चौंक पड़ी। खिड़की वाले आदमी ने उसे खिलाने के लिए अपनी गोद में ले रखा था। बच्चा शायद भूखा था। मां के गोद में लेते ही उसकी आंखें चमक उठी थी। 'तुम अकेली ही हो क्या बेटी? बच्चे के पिता नहीं है क्या? ऐसे तो अकेली परेशान हो जाओगी' वहीं बैठी एक बुजुर्ग महिला के सवाल पर बच्चे की मां ने आंखों ही आंखों में अपनी पति की तरफ ईशारा किया था। रेनू ने ठंडी सांस भरी। 'ये तो रास्ता है। ये अकेले नहीं कट पाता तो मेरी तो पूरी ...।'

उस भीड़ में ही रेनू ने धीरे से खिसककर अपनी कमर टिकाने के लिए थोड़ी जगह बना ली थी। 'यही ट्रेन थी। यही रास्ता था। हम दोनों कितने खुश थे उस दिन। उसने कहा था कि अब वो मुझे कभी कलकत्ते में अकेले नहीं छोड़ेगा। हमेशा अपने साथ रखेगा।' 'बेटी मेरी गठरी थमा दोगी तो ज़रा।' उसी बुजुर्ग महिला ने रेनू से अपने खाने की पोटली मांगी थी। पोटली रेनू के बगल में ही रखी थी। पोटली उसे देकर वह वापस उस बच्चे की तरफ देखने लगी थी। बच्चा अब सो गया था। उसके चेहरे की शान्ति उसकी मां के चेहरे पर भी अपना असर दिखा रही थी। 'तुम अकेली जा रही हो क्या बेटी' – इस बार यह सवाल रेनू के लिए था। 'हां' – संक्षिप्त से उत्तर के रेनू ने गर्दन टिकाकर अपनी आंखें बन्द कर ली थी। 'ये बूढ़ी औरतें इतना सवाल क्यों पूछती हैं। अभी अकेले जाने का पूछा है। फिर पति का पूछेंगी, फिर बच्चे का। फिर दिलासा देने लगेंगी। ये अपने काम से काम क्यूं नहीं रखती।'

'लो बेटी तुम भी लो' – रेनू ने आंखें खोलीं। बुढ़िया ने अपनी पोटली में से दो रोटियां रेनू की तरफ भी बढ़ा दी थी। 'खा लो बेटी। कब तक यूं ही

बैठी रहोगी। ऐसे ही बोलते–बतियाते खाते–पीते सफर बीत जाएगा।' बुढ़िया की भलमनसाहत पर रेनू ना न कर सकी। चुपचाप रोटियां लेकर खाने लगी। फिर ठहरी हुई आवाज़ में बोली– 'माताजी मेरे पति को गुजरे कुछ साल हो गए। कैंसर था उनको। ईलाज नहीं करवा सके थे हम। ठहरी हुई आवाज में बुढ़िया ने दिलासा देने की कोशिश की, ज़िंदगी ऐसी ही है बेटी। हर कदम पर परीक्षा लेती है। कहां तक जाना है तुझे?' 'कलकत्ते तक। वहां मेरे मां–बाप रहते हैं।' 'अच्छा तो अपने मां–बाप से मिलने जा रही है।' नज़रें नीची कर रेनू ने सिर हिलाया तभी बच्चे की चीख़ ने उसका ध्यान फिर अपनी तरफ खीच लिया था। शायद नींद में ही उसने कोई बुरा सपना देखा था।

'माताजी मेरी शादी के बाद चार बच्चे हैं। वो मेरे मां–बाप के पास कलकत्ते में ही रहते हैं। वहां दिल्ली में अकेले उन्हें सम्भालना मेरे बस की बात नहीं न।' 'अच्छा' बुढ़िया ने धीमी आवाज़ में हामी भरी। 'वो मेरे पति दिल्ली में ही रिक्शा चलाते थे और शादी के कुछ समय बाद मैं भी उसके पास दिल्ली ही आ गई थी। बाद में हमने वहां एक खोली भी खरीद ली थी। अब वहां जमी–जमाई गृहस्थी है। कोठी पर काम करती हूं। वापस आ गई तो जमाया काम भी चला जाएगा।' बच्चों के साथ न रहने की खबर पर बुढ़िया के सवालों से बचने के लिए रेनू ने सारी बात एक सांस में ही खतम कर दी थी। 'अच्छा ही है बेटी। पैसा भी तो ज़रूरी है। फिर कलकत्ते में काम भी तो नहीं मिलता ना। काम मिल भी जाए तो पैसे बहुत कम मिलते हैं।'

'ये ट्रेन इतना धीरे क्यूं चल रही है। कब तक पहुंचेगी ये कलकत्ते?' उसी बुढ़िया ने बगल में बैठे एक आदमी से सवाल किया था। 'अम्मा आज तो गाड़ी ठीक समय से चल रही है। वरना कभी–कभी तो घंटों लेट करती

है।' रेनू का मन भर आया। उसने बच्चे की तरफ फिर नज़रें घुमाईं। बच्चा अब अपने पिता की गोद में बैठे–बैठे डिब्बे का मुआयना कर रहा था। उसकी शरारती आंखें की चमक के साथ आस–पास बैठे लोग अपना–अपना खेल–खेल रहे थे। जितना विचित्र मुंह बनाकर वो नई–नई आवाज़ें निकालते, बच्चा उतनी ही ज़ोर से हंसता। उसकी हर हंसी के साथ एक दूसरा आदमी फिर अपनी अनूठी विचित्रता लिए तैयार हो जाता था। 'देखो बच्चे कैसे बड़े–बड़ों को बच्चा बना देते हैं।' बुढ़िया हंस पड़ी। रेनू का भी मन थोड़ा हल्का हो गया। फिर अचानक ही लगा जैसे किसी ने उसकी आंखों में खुजली कर दी हो। डबडबाई आंखों के साथ उसने सिर झुका लिया। 'क्या हुआ बेटी? देख रही हूं तू कुछ बोल नहीं रही। बहुत उदास लग रही है।' 'कुछ नहीं माताजी। थोड़ी थकान लग रही है।' नज़रें नीची किए उसने धीमे से जवाब दिया।

गाड़ी गांवों–शहरों को लांघते अब भी अपनी रफतार के साथ भागी जा रही थी। पीछे छूटते स्टेशन कलकत्ते के फासले को और कम कर रहे थे। 'बेटी तुमने पानी नहीं पिया न। लो पानी पी लो।' 'नहीं चाहिए माताजी।' आंखों की नमी ने गले को भी अपने असर में ले लिया था। भर्राई आवाज़ को सुन बुढ़िया चौंकी। खिसककर रेनू के पास बैठ गई। 'क्या हुआ?' धीमे–से उसके हाथ दबाते हुए उसने पूछा। 'माताजी मेरे छोटे बेटे को टीबी हो गया है। बीमारी काफी बढ़ गई है। शायद वो बच न पाए। मेरा बच्चा ...।' रेनू का सब्र टूट गया। अपनी साड़ी का आंचल मुंह में ठूसकर उसने अपना चेहरा बुढ़िया के कंधे के पीछे छिपा लिया। सिसकियों से बंधी उसकी आवाज़ ने बोगी के यात्रियों को स्तब्ध कर दिया था। अचानक ही उस भीड़ में उसकी जगह थोड़ी फैल गई थी। ट्रेन अब भी उसी गति से भागती जा रही थी। अपनी हिचकियों के बीच रेनू ने धीरे से बुढ़िया के कंधे

के पीछे से बच्चे की ओर झांका। बोगी में पसरी शान्ति के साथ ही बच्चा भी अब शान्त हो गया था। उसकी आंखें अब खिड़की के बाहर गड़ी हुईं थी। बोगी के भीतर की पसरी हुई शान्ति के बीच ही उसने अपने लिए बाहर कुछ आवाज़ें ढूंढ ली थी।

मालती

संजय कैम्प, नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया। सुबह के दस बज रहे थे। पूरा परिवार इकट्ठा हो चुका था। सबके चेहरे पर दुख के भाव स्पष्ट दिख रहे थे। बीती रात की घटना को भूलना आसान भी तो नहीं था। तभी किसी ने कहा – मालती को होश आ गया। सभी लोग मालती के कमरे की तरफ भागे। मालती का पति उसके बगल में ही खड़ा था। होश आने पर मालती ने सबसे पहले अपने देवर के बारे में पूछा था। 'उसे नहीं बचा पाए।' पति ने रोते हुए बताया था। मालती की सिसकियां बंध गईं थी। रात का मंज़र उसकी आंखें के सामने से घूम गया। करीब दस बजे होंगे। तब वो अपने कमरे में ही थी। तभी सिलेण्डर फटने की एक ज़ोरदार आवाज़ के साथ पूरी झुग्गी में आग लग गई थी। अपने कमरे से बाहर निकलने की कोशिश के बावजूद वह अपने को आग के घेरे में आने से रोक नहीं पाई थी। उसका चेहरा आग की लपटों से झुलस गया था। उसका देवर और दूसरे रिश्तेदार भी आग की चपेट में आ गए थे। बाकी कुछ तो उसे बहुत याद नहीं रहा, सिवाय इसके कि उसका देवर बुरी तरह जल गया था। देवर के झुलसे शरीर की याद आते ही उसने अपनी आंखें बंद कर ली थी।

शाम गहरी हो गई थी। बस्ती की चहल–पहल लोगों के काम से वापस लौटने के साथ वापस आ चुकी थी। मालती का पति भी अभी–अभी अपने काम से लौटा था। वो सिलाई का काम करता है। मालती ने पति को खाना परोसा और खुद भी उसके साथ खाने बैठ गई। आज वह बहुत उदास लग रही थी। खाते वक्त उसके पति का ध्यान उसके उदास चेहरे की तरफ गया। 'क्या बात है? परेशान लग रही हो? कोई बात हो गई क्या? मालती की आंखों में आंसू आ गए। 'उन लोगों ने काम पर वापस रखने से

मना कर दिया है। उनका कहना है कि मेरा आधा चेहरा जल गया है। सो वो मुझसे काम नहीं करा सकती।' 'क्या मतलब कि आधा चेहरा चल गया है? इससे उन्हें क्या? तुम्हारे हाथ–पैर तो नहीं चले हैं ना। चेहरे से काम कराना है कि हाथ–पैर से? और जब तुम कह रही हो कि तुम काम कर सकती हो तो वो क्यूं तुम्हारी चिन्ता ... अच्छा अब समझा। उन्हें तुम्हारी चिन्ता नहीं है। उन्हें तो अपने घर में काम वाली भी टिप–टॉप चाहिए। कैसे लोग हैं ये? दया–ममता सब खतम हो गई है इनमें। तुम चिन्ता न करो। कहीं–न–कहीं काम ज़रूर मिल जाएगा।' मालती रो पड़ी। 'कैसे न करूं चिन्ता। तुम्हारा कारीगरी का काम है। किसी–किसी महीने में काम भी नहीं मिलता है। उन महीनों में तंगी का सोचकर दिमाग सुन्न हो जाता है। ऊपर से तीनों बच्चों की पढ़ाई की ज़िम्मेदारी। अब तीनों की पढ़ाई तो नहीं छुड़ा देंगे न। वो तो कहो झुग्गी हमारी अपनी है। अगर किराया देना पड़ता तो क्या होता। वैसे भी मेरे इलाज़ में जो पैसा लगा है, उसने सब बराबर कर दिया है। इतने सालों से उस घर में कर रही थी। गोरखपुर से जब अम्मा–बाबूजी मुझे चार–पांच साल की उमर में दिल्ली लाए थे, उसके बाद वो पहला घर था जहां अम्मा ने काम शुरू किया था। जब मैं दस साल की हुई तभी से अम्मा ने मुझे कहीं काम पर लगवा दिया था। बीस–बाईस साल जिस घर में काम किया, उस घर ने मुझे चेहरा झुलसने पर निकलने दिया। इतने सालों की मेरी सेवा भी उन्हें याद नहीं आई?' भरी आंखों के साथ उसके पति में उसके आंसू पोंछे। उसके चेहरे के लगभग झुलसे चेहरे को देखकर उसे पुराने दिन याद आ गए। 'कितनी सुन्दर लगती थी ये। तभी तो इसके पीछे पागल की तरह घूमता रहता था। अपने मां–बाप को भी साफ कह दिया था मैंने। शादी करूंगा तो इसी से। शादी से पहले हम कितना घूमते थे साथ–साथ। तभी तय किया था हमने कि हमारी शादी के बाद हम अपनी ज़िन्दगी बस्ती में ही सीमित नहीं रखेंगे। हमारी ज़िन्दगी बस्ती के बाकी लोगों की तरह नहीं होगी। तब इसके सुन्दर चेहरे से

टपकती इसकी खुशी इसे और सुंदर बना देती थी। इस हादसे ने इसका अपने ऊपर से भरोसा हिला दिया। मेरा भाई चल बसा। सारी जमा–पूंजी खतम हो गई।' अपने आंसू छिपाते हुए उसने मालती को भरोसा दिलाया। 'तू देखना। सब ठीक हो जाएगा। तू तो इतना अच्छा काम करती है। तुझे ज़रूर काम मिलेगा।'

उस रात दोनों नहीं सोए। आगे की ज़िन्दगी की चिन्ता में एक दूसरे से अपनी नज़रें छिपाते दोनों ने पूरी रात आंखों में ही काट दी।

सबेरा हुआ। अपनी–अपनी ज़िम्मेदारियां निभाते एक–दूसरे के लिए प्रार्थना कर दोनों फिर अपने–अपने काम पर निकल पड़े। एक नौकरी करने, दूसरी नौकरी ढूंढने। कुछ दिनों तक ये सिलसिला यूं ही चलता रहा। अपनी ज़िन्दगी बेहतर बनाने की जुगत में दोनों दिन भर लगे रहते। फिर शाम को वापस आते। हर शाम मालती का पति अपनी बीवी के लिए प्रार्थना करते आता। लेकिन घर पहुंचते ही उसका उतरा चेहरा देखकर वो समझ जाता। इधर मालती बहुत कम बोलने लगी थी। उसके पति को डर लगने लगा था कि कहीं उसका अपने ऊपर भरोसा टूट न जाए। एक बच्चे ही थे जिनकी वजह से वो थोड़ा–बहुत बातचीत कर लेती थी। ऐसे ही कुछ दिन बीत गए। मालती काम ढूंढ–ढूंढकर थक चुकी थी। एक दिन उसने अपने पति से पूछा 'सुनोजी क्या मैं बहुत बुरी दिखने लगी हूं? तुम भी तो मुझे बोझ नहीं समझने लगे हो? मैं अब कुरूप हो गई हूं ना?' 'पागल हो गई है क्या? ये दूसरों की बात तू कब से सुनने लगी? मेरे लिए तू बस मेरी मालती है, समझी।'

पति के दिलासे पर मालती का गला भर गया। 'तुम मुझे दिलासा भर देने के लिए तो नहीं बोल रहे हो ना?' इस बार उसका पति रो पड़ा। 'तुझे क्या लगता है? ये मेरे लिए परीक्षा की घड़ी नहीं है। हर रोज़ तुझे टूटते हुए देखता हूं। पैसा–रुपया छोड़। तेरे आगे उनकी कीमत नहीं है मेरे लिए। वो

सब तो होता रहेगा। लेकिन जो तेरा अपने ऊपर या मेरे ऊपर भरोसा टूट गया तो फिर मैं कहां जाऊंगा। और कौन है मेरा। मौत के मुंह से निकलकर आई है तू। उन कोठीवालियों के लिए थोड़े। हमारे लिए आई है। उनके निर्दयी मन में जगह बनाने की कोशिश में लगी हुई है। ये नहीं सोचती है कि तेरा उतरा हुआ चेहरा देखकर हमारे मन को कितनी ठेस पहुंचती होगी। बच्चों को अपनी मां का दुख देखकर कैसा लगता होगा।' अपने आंसू आप पोंछते हुए उसने मालती का हाथ पकड़ा और फिर धीमे से उसके चेहरे के जले हुए हिस्से को सहलाया। 'तेरे चेहरे का ये हिस्सा मेरे लिए आज भी उतना ही सुन्दर है जितना पहले थे। तू मेरे बच्चों की मां है। मेरे घर की लक्ष्मी है। मेरे लिए पहले भी तू ही सबसे सुन्दर थी। आज भी सबसे सुन्दर है।' मालती ने अपने पति की आंखों में झांका। उसके पति के असीम विश्वास ने आज उसके भीतर नई ऊर्जा का संचार कर दिया था। उसका बुझा चेहरा एकदम से दमकने लगा था।

अगली शाम मालती का पति घर आया तो वह उसके गले लग गई थी। 'मुझे काम मिल गया। झाड़ू–बर्तन और किचन का काम है। इसके लिए मुझे दो हज़ार रुपए महीने मिलेंगे।' मालती के पति ने उसकी ओर देखा। खुशी से उसकी आंखें चमक रही थी। उसका आत्मविश्वास उसके भरोसे की डोर के साथ बंधकर और भी मज़बूत हो गया था।

''दिल्ली, जहाँ मैनें अपनी ज़िंदगी का ज्यादातर हिस्सा काटा है, उसने मेरा पैर फ्रैक्चर हो जाने पर मुझे ठुकरा दिया। अब समझ मे आया, वहाँ बस कमाने वाला ही रहता है। जब मैं कमा रहा था, तब मैं था, अब तुम कमा रही हो तो तुम हो।''
इसी किताब से....

उपेक्षित श्रमः इस किताब में दिल्ली में रहने वाली लगभग सौ घरेलू कामगारों से बातचीत के बाद उनमें से दस महिलाओं की अपनी जिंदगियों को कहानी के रूप में रखने की कोशिश की गई है। वस्तुतः श्रम के पुनरुत्पादन से जुड़ता घरेलू कामगारों का कार्य शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक कार्यो के साथ सम्मिलित होकर न केवल श्रम की इकाइयों की रचना करता है बल्कि लोगों का सृजन भी करता है। किताब में शामिल सभी दस कहानियां घरेलू कामगारों की जुबान से निकली इनकी निजी जिंदगियों का फलसफा है जो अपनी विभिन्न व्यक्तिगत-परिस्थितिगत घटनाओं के बाद भी अपने काम की लगभग एक जैसी परिस्थितियों के नाते समुचे घरेलू कामगार वर्ग को संबोधित करती हैं।

लेखिकाः साहित्य में उच्य अध्ययन के दौरान ही छात्र राजनीति और अंदोलन में सक्रिय रहकर श्रुति से जुड़कर ज़मीनी स्तर पर जन संगठनों के साथ काम कर रही है। अकादमिक स्तर पर 'शिक्षा' और 'भाषा' श्वेता की रुचि के क्षेत्र हैं।

आवरण सुकृताअल्लूरी
छायांकन वलयसिंह

SRUTI
Society for Rural Urban & Tribal Initiative
www.sruti.org.in